

व्यवहारके बिना तीर्थका उच्छेद होता है और निश्चयके बिना तत्वका उच्छेद होता है । जिनकी प्रवृत्ति स्वसमयरूप परमार्थसे रहित है और जो कर्मकाण्डमें लगे रहते हैं वे निश्चय शुद्ध रूप चारित्रके रहस्यको नहीं जानते । तथा जो निश्चयका आलम्बन लेते हैं किन्तु निश्चयसे निश्चयको नहीं जानते, वे बाह्य क्रियाकाण्डमें आलसी चारित्राचारको नष्ट कर देते हैं । अतः आचार्याको निश्चय और व्यवहारकेनिरूपणमें दक्ष होना आवश्यक है । तथा प्रियवचन और हितकारी वचन बालना चाहिए । यदि कोई श्रोता प्रश्न करे तो उत्तेजित होकर सौमनस्य नहीं छोड़ना चाहिए । ऐसा व्यक्ति निर्ग्रन्थाचार्योंमें भी श्रेष्ठ होना चाहिए । जो संसारको दीर्घ करते हैं ऐसे मिथ्यात्व आदिको ग्रन्थ कहते हैं । उनको जिन्होंने छोड़ दिया है उन साधुओंको निर्ग्रन्थ कहते हैं । तथा जो ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्र्याचार, तपाचार और वीर्याचार इन पाँच आचारोंको स्वयं पालते हैं और दूसरोंसे --- शिष्योंसे उनका पालन कराते हैं उन्हें आचार्य कहते हैं । कहा भी है --- छजो पाँच प्रकारके आचारको स्वयं पालते हैं और शिष्योंसे पालन कराते हैं--- समस्त शास्त्रोंके ज्ञाता उन धीर महापुरुषोंको आचार्य कहते हैं"निर्ग्रन्थोंके आचार्य निर्ग्रन्थाचार्य होते हैं और उनमें भी जो श्रेष्ठ होते हैं उन्हें निर्ग्रन्थाचार्यवय कहते हैं । उक्त विशेषताओंसे युक्त ऐसे आचार्य ही, जो कि सदा परोपकारमें लगे रहते हैं, सन्मार्गका ---- व्यवहार निश्चय मोक्षमार्गका उपदेश देनेमें समर्थ होते हैं । अतः ग्रन्थकार आशा करते हैं कि उपदेशकाचार्य उक्त गुणोंसे विशिष्ट होवे । उक्त गुणोंसे विशिष्ट आचार्यको ही आदरपूर्वक उपदेशमें लगना चाहिए ।

आगे अध्यात्मरहस्यके ज्ञाता गुरुकी सेवामें मुमुक्षुओको लगनेकी प्रेरणा करते हैं ---

जइ जिणमयं पवज्जइ ता मा ववहाराणिच्छए मुअह ।

एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण पुण तच्चं ॥

चरणकरणप्पहाणा ससमय परमत्थ मुक्कवावारा ।

चरणकरणं ससारं णिच्छयदो ण जाणयन्ति ॥ --- सन्मति., ३/६७/

णिच्छयमालंबंता णिच्छदो णिच्छयं अजाणता ।

णासंति चरणकरणं बाहिरकरणालसा वेहं ॥

विधिवध्दर्मसर्वस्वं यो बूद्ध्वा शक्तितश्चरन् ।

प्रवत्कि कृपयाऽन्येषां श्रेयः श्रेयोर्थिनां हि सः॥१०॥

विधिवत् -- विधानार्ह, धर्मसर्वस्वं -- रत्नत्रयसमाहितमात्मानं श्रेयः -- सेव्यः॥१०॥

अथ वाचनाचार्याध्यात्मरहस्यदेशकयोर्लोके प्रभावप्राकट्यमाशास्ते ---

स्वार्थकमतयो भान्तु मा भान्तु घटदीपवत् ।

परार्थ स्वार्थमतयो ब्रम्हवद् भान्तुवहद्रिवम् ॥११॥

भान्तु --- लोके आत्मानं प्रकाशयन्तु। त्रिविधा ही मुमुक्षुवः केचित् परोपकाराः अन्ये स्वोपकाराः, अन्यतरे च स्वोपकारैकपरा इति । ब्रम्हवत् --- सर्वज्ञतुल्यम्, अहर्दिव ---- दिने दिने नित्यमित्यर्थः । अत्रेयं भावना प्रकम्पभावे देशले लोक : परं विश्वासमुपेत्य तद्वचसा निरारेकमामुत्रिकार्थाय यतते ॥११॥

जो विधिपूर्वक व्यवहार और निश्चयरत्नत्रयात्मक सम्पूर्ण धर्मको परमागमसे और गुरुपरम्परासे जानकर या रत्नत्रयसे समाविष्ट आत्माको स्वसंवेदनसे जानकर शक्तिके अनुसार उसका पालन करते हुए लाभ

पूजा ख्यातिकी अपेक्षा न करके कृपाभावसे दूसरोंके उसका उपदेश करते हैं, अपने परम कल्याणके इच्छुक जनोके उन्हीकी सेवा करनी चाहिए, उन्हीसे धर्मश्रवण करना चाहिए ॥१०॥

उपदेशकाचार्य और अध्यात्मरहस्यके उपदेष्टाका लोकमें प्रभाव फैले ऐसी आशा करते हैं---

जिनकी मति परार्थमें न होकर केवल स्वार्थमें ही रहती है वे घटमें रखे दीपककी तरह लोकमे चमके या ना चमके, उनमें हमें कोई रुचि नहीं है। किन्तु जो स्वार्थकी तरह परार्थमें भी तपतर रहते है वे बम्हकी तरह दिन - रात प्रकाशमान रहें।

विशेषार्थ--- तीन प्रकार के मुमुक्षु होते हैं। उनमें- से कुछ तो अपना उपकार करते हुए भी परोपकार को प्रधान रूपसे करते है जैसा कि आगममें कहा है --- मुमुक्षुजन अपने दुःखको दूर करनेके लिए प्रयत्न करना भी उचित नहीं मानते, तथा परदुःखसे दुखी होकर बिना किसी अपेक्षाके परोपकारके लिए सदा तपतर रहते है।

कुछ मुमुक्षु स्वोपकारको प्रधानता देते हुए परोपकार करते है। कहा भी है --- अपना हित करना चाहिए, यदि शक्य हो तो परहित करना। किन्तु आत्माहित और परहितमें से आत्माहित ही सम्यक् रूपसे करना चाहिए।

कुछ अन्य मुमुक्षु केवल स्वोपकारमें ही तपतर रहते है। कहा भी है ---

घरोपकारको छोडकर स्वोपकारमें तपतर रहो। लोकके समान दृश्यमान परपदार्थों का उपकार करनेवाला मूढ होता है।

स्वदुःखनिर्घुणारम्भा : परदुःखेषु दुःखिताः ।

निर्व्यपेक्ष परार्थेषु बद्धकक्षा मुमुक्षवः ॥ --- महापु. ९/१६४/

आदहिदं कादव्वं जइ सक्कइ परहिदं च कादव्वं ।

आदहिदपरहिदादो आदहिदं सुद्ध कादव्वं ॥

परापतिमुत्सृज्य स्वोपकारपरो भव ।

उपकुर्वन् परस्याज्ञो दृश्यमानस्य लोकवत् ॥ --- इष्टोप. ३२ श्लो.।

अथेदानीमासन्नभव्यानामदिलभत्वेऽपि न देशना निष्फला इति तां प्रतिवक्तुमुत्सहते ---

पश्यन् संसृतिनाटकं स्फुटरसप्राग्भारकिर्मीरितं,

स्वस्थश्चर्वति निवृतः सुखसुधामात्यन्तिकीमित्यरम् ।

ये सन्तः प्रतियन्ति तेऽद्य विरला देश्यं तथापि क्वचित्

काले कोऽपि हितं श्रयेदिति सदोत्परद्यापि शुश्रूषुताम् ॥१२॥

पश्चन् --- निर्विकल्पमनुभवन् । नाटकं --- अभिनेयकाव्यम् । स्फुटाः

विभावानुभावव्यभिचारिभिरभिव्यज्यमनाः, रसाः--- शृङ्गारादयः । तत्सामान्यलक्षणं यथा---

कारणान्यथा कार्याणि सहकारिणि यानि च ।

रत्यादेः स्थायिनो लोकेतानि चेन्नाटयकाव्ययोः॥

विभावा अनुभावास्तत्कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।

व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥

इन तीन प्रकारके मुमुक्षुओंमें -- से अन्तिममें तटस्थ भावना दिखानेकेलिए ग्रन्थकारने उक्त कथन किया है। उसका सार यह है कि घटमें रखा हुआ दीपक प्रकाशमान हो या न हो, उसमें लोगोंमें न हर्ष होता है और न विषाद। वह हेय और उपादेय पदार्थोंका प्रकाशक न होने से उपेक्षाके योग्य माना जाता है। किन्तु जो स्वार्थकी तरह ही परार्थमें लीन रहते हैं वे सदा प्रकाशमान रहें। इसका आशय यह है कि प्रभावशाली वक्ताके वचनोंपर विश्वास काके लोग उसकी वाणीसे प्रेरणा लेकर बिना किसी प्रकारकी शंकाके परलोकसम्बन्धी धार्मिक कृत्योंमें प्रवृत्ति करते हैं अतः परोपकारी पुरुषसे बड़ा लोकोपकार होता है। इसलिए परोपकारी प्रवक्ता सदा अभिनन्दनीय है।

यद्यपि इस कालमें निकट भव्य जीव अति दुर्लभ है तथापि उपदेश करना निष्फल नहीं होता, इसलिए उपदेशके प्रति वक्ताको उत्साहित करते हैं ----

घ्कर्मसे रहित अपने शुद्ध स्वरूपमें विराजमान मुक्तात्मा व्यक्त स्थायी भावों और रसोंके समूहसे नानारूप संसार रूपी नावको देखते हुए--- निर्विकल्प रूपसे अनुभव करते हुए अनन्तकाल तक सुखरूपी अमृतका आस्वादन करते हैं, उ ऐसा उपदेश सुनकर जो तत्काल उसपर श्रद्धा कर लेते हैं कि ऐसा ही है, ऐसे निकट भव्य जीव इस कालमें बहुत विरले हैं। तथापि किसी भी समय कोई भव्यजीव अपने हित में लग सकता है इस भावनासे श्रवण करनेकी इच्छाको उत्पन्न करके भी सदा उपदेश करना चाहिए ॥१२॥

विशेषार्थ --- यह संसार एक नाटककी तरह है। नाटक दर्शकोंके लिए बड़ा आनन्ददायक होता है। उसमें विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भावोंके संयोगसे रति आदि स्थायी भावोंकी पुष्टि होती है। पुष्ट हुए उन्हीं स्थायी भावोंको रस कहते हैं। मनके द्वारा जिनका आस्वादन किया जाता है उन्हें रस कहते हैं। वे श्रृङ्गारादिके भेदसे अनेक प्रकारके होते हैं। उनका सामान्य लक्षण इस प्रकार है--- चरति आदिके कारण रूप, कार्य रूप और सहकारीरूप जितने भाव हैं उन्हें लोकमें स्थायी भाव कहते हैं। यदि इनका नाटक और काव्यमें प्रयोग किया जाये तो उन्हें विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहते हैं। उन विभाव आदिसे द्वारा व्यक्त होनेवाले स्थायी भावको रस कहते हैं। छ तथा--- विभाव, अनुभाव, सात्विक और व्यभिचारी भावोंके द्वारा साधे जानेवाले स्थायी भावको रस कहते

प्राग्भारः--व्यूहः। किर्मोरित--नानारू पता नीतम। स्वस्थः--स्वस्मन कर्मविविक्ते आत्मनि तिष्ठन निरातडश्च, निर्वृतः--मुक्तात्मा, आत्यन्तिकीम--अनन्तकालवतीम । अरं--झटिति सदुपदेशश्रवणानन्तरमेव । सन्तः--आसन्नभव्याः । प्रतियन्तिइतथेति प्रतिपत्तिगोचरं कुर्वन्ति । तथा चोक्तम--

जेण विआणदि सध्दं(व्वं) पेच्चदि सो तेण सोक्खमणुहवदि ।

इति तं जाणदि भविओ अभवियसत्तो ण सद्यहदि ॥ [पच्चास्ति० १६३ गा.]

देश्यं--प्रतिपाद्यं तत्त्वम ॥१२॥

है। ऐसा भी अन्यत्र कहा है। यहाँ बतलाया है कि रति आदिकी उत्पत्तिके जो कारण हैं वे विभाव शब्दसे, कार्य अनुभाव शब्दसे और सहकारी व्यभिचारी भाव नामसे कहे जाते हैं। रति आदिके कारण दो प्रकारके होते हैं--एक आलम्बन रूप और दूसरे उद्यीपन रूप। स्त्री आदि आलम्बन रूप कारण है क्योंकि स्त्रीको देखकर पुरुषके मनमें प्रीति उत्पन्न होती है। इस प्रीतिको उदबुद्ध करनेवाले चाँदनी, उद्यान

आदि सामग्री उद्दीपन विभाव है क्योंकि वे प्रीतिको उद्दीप्त करते हैं। इस प्रकार आलम्बन और उद्दीपन दोनो मिलकर स्थायी भावको व्यक्त करते हैं। ये दोनो रसकेबाह्य कारण हैं। रसानुभूतिका मुख्य कारण स्थायीभाव है। स्थायीभाव मनकेभीतर रहनेवाला एक संस्कार है जो अनुकूल आलम्बन तथा उद्दीपनको पाकर उद्दीप्त होता है। इस स्थायी भावकी अभिव्यक्ति ही रस शब्दसे कही जाती है। इसीसे विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावकेसंयोगसे व्यक्त होनेवाले स्थायी भावको रस कहते हैं। व्यवहारदशामे मनुष्यको जिस जिस प्रकारकी अनुभूति होती है उसको ध्यानमे रखकर प्रायः आठ प्रकारके स्थायी भाव साहित्य शास्त्रमे माने गये हैं--रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा या धृणा और विस्मय। इनकेअतिरिक्त निर्वेदको भी नौवाँ स्थायी भाव माना गया है। इनकेअनुसार ही नौ रस माने गये हैं--श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अदभुत और शान्त। शान्त रसकी स्थितिकेविषयमे मतभेद है। भरत मनिने अपने नाटयशास्त्रमे (६-१६) आठ ही रस नाटयमे बतलाये हैं। काव्य प्रकाशकारने भी उन्हीका अनुसरण किया है। इसकेविपरीत उध्दट, आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्तने स्पष्ट रूपसे शान्त रसका कथन किया है। अस्तु, व्यभिचारी भाव ३३ हैं--निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीडा, चपलता, हर्ष, आवेग, जडता, गर्व विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, सोना, जागना, क्रोध, अवहित्था (लज्जा आदिके कारण आकार गोपन), उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास और वितर्क।

यद्यपि यहाँ निर्वेदकी गणना व्यभिचारी भावमे की गयी है परन्तु यह शान्त रसका स्थायी भाव भी है। जिसका निर्वेद भाव पुष्ट हो जाता है उसका वह रस हो जाता है। जिसका परिपुष्ट नहीं होता उसका भाव ही रहता है। इस प्रकारकेभावो और रसोकी बहतायतसे यह संसारु पी नाटक भी विचित्र रूप है। इसका निर्विकल्प अनुभवन करनेवाले मक्तात्मा आत्मिक सुखमे ही सदा निमग्न रहते हैं, ऐसे उपदेशको सुनकर उसपर तत्काल विश्वास कर लेनेवाले अत्यन्त अल्प हैं। कुन्दकुन्द स्वामीने कहा है--
 घ्जीव जिस केवलज्ञान, केवलदर्शनकेद्वारा सबको जानता देखता है उसी केद्वारा वह आत्मिक सुख का अनुभव करता है। इस बातको भव्य जीव जानता है, उसकी श्रद्धा करता है किन्तु अभव्य जीव श्रद्धा अथाभव्याप्रतिपाद्यत्वे हेतुमुपन्यस्यति--

बहुशोप्युपदेशः स्यान्न मन्दस्यार्थसंविदे ।

भवति ह्यन्धपाषाः केनोपायेन काच्चनम ॥१३॥

मन्दस्य--अशक्यसम्यग्दर्शनादिपाटवस्य सदा मिथ्यात्वरोगितस्य इत्यर्थः । अर्थसंविदे--अर्थ हेय उपादेये च विषये संगता अन्तर्विधिनियता वित्त ज्ञानं तस्मै न स्यात् । तथा चोक्तम--

घ्जले तैलवितिहय वृथा तत्र बहिर्द्युति ।

रसवत्स्यान्न यन्नान्तबोधो वेधाय धातुषु ॥३ [सोम. उपास. १८१ श्लो.]

अन्धपाषाणः--अविभाज्यकाच्चानाश्म । तदुक्तम--

अन्धपाषाणकल्प स्यादभव्यत्वं शरीरिणाम ।

यस्माज्जन्मशतेनापि नात्मतत्त्व पृथग भवेत् ॥१३॥

नहीं करता । फिर भी ग्रन्थकार कहते हैं कि ऐसी परिस्थिती होते हुए भी उपदेशक को निराश न होकर सुननेकी इच्छा नहीं होनेपर भी उस इच्छाको उत्पन्न करके उपदेश करना चाहिए क्योंकि न जाने कब

किसकी मति अपने हित मे लग जाये । इतः समय प्रतिकूल होते हुए भी सुवक्ता को धर्मका उपदेश करना ही चाहिए ।

अभव्य को उपदेश न देनेमे युक्ति उपस्थित करते है--

जो मन्द है अर्थात् जिसमे सम्यग्दर्शन आदिको प्रकट कर सकना अशक्य है क्योंकि वह मिथ्यात्वरु पी रोगसे स्थयीरु पसे ग्रस्त है दूसरे शब्दोमे जो अभव्य है--उसे दो-तीन बारकी तो बात ही क्या, बहुत बार भी उपदेश देनेपर हेय-उपादेय रू प अर्थका बोध नही होता । टीक ही है--क्या किसी भी उपायसे अन्धपाषाण सुवर्ण हो सकता है ?

विशेषार्थ--जैसे खानसे एक स्वर्णपाषाण निकलता है और एक अन्धपाषाण निकलता है । जिस पाषाणमे-से सोना अलग किया जा सकता है उसे स्वर्णपाषाण कहते है और जिसमे-से किसी भी रीतिसे सोनेको अलग करना शक्य नही है उसे अन्धाषाण कहते है । इसी तरह संसारमे भी दो तरहके जीव पाये जाते है--एक भव्य कहते जाते है और दूसरे अभव्य कहे जाते है । जिनमे सम्यग्दर्शन आदिके प्रकट होनेकी योग्यता होती है उन जीवोको भव्य कहते है और जिनमे उस योग्यताका अभाव होता है उन्हे अभव्य कहते है । जैसे एक ही खेतमे पैदा होनेवाले उडद-मूंगमे से किन्ही मे तो पचनशक्ति हाती है, आग आदिका निमित्त मिलनेपर वे पक जाते है । उनमे कुछ ऐसे भी उडद मूंग होते है जिनमे वह शक्ति नही होती, वे कभ भी नही पकते । इस तरह जैसे उनमे पाक्यशक्ति और अपाक्यशक्ति होती है वैसे ही जीवो मे भी भव्यत्व और अभव्य शक्ति स्वाभाविक होती है । दोनो ही शक्तियाँ अनादि है । किन्तु भव्यत्वमे भव्यत्व शक्तिकी व्यक्ति सादि है । आशंय यह है कि भव्य जीवोमे भी अभव्य जीवोके तरह मिथ्यादर्शन आदि परिणामरु प अशुद्धि रहती है । किन्तु उनमे सम्यग्दर्शन आदि परिमाण रू प शुद्धि भी सम्भव है । अतः सम्यग्दर्शन आदिकी उत्पत्ति के पहले भव्यमे जो अशुद्धि है वह अनादि है । क्योंकि मिथ्यादर्शनकी परम्परा अनादि कालसे उसमे आ रही है । किन्तु सम्यग्दर्शन आदिकी उत्पत्तिरु प शक्तिकी व्यक्ति सादि है । अभव्यमे भी अशुद्धता अनादि है क्योंकि उसमे भी मिथ्यादर्शनकी सन्तान अनादि है किन्तु उसका की अन्त नी अता अतः उसकी अशुद्धता अनादि अनन्त है । दानोमे

भव्योपीदृश एव प्रतिपाद्यः स्यादित्याह--

श्रोतु वाच्छति यः सदा प्रवचन प्रोक्तं शृणोत्यादरात्

गृह्णाति प्रयतस्तदोमचलं तं धारयत्यात्मवत् ।

तद्विद्यैः सह संविदत्यपि ततो न्याश्चोहतेपोहते,

तत्तत्त्वाभिनिवेशमावहति च ज्ञाप्यः स धर्म सुधीः ॥१४॥

अन्न शुश्रूषा-श्रवण-ग्रहण-धारण-विनोहापोहत्त्वाभिनिवेशा अष्टौ बुद्धिगुणः क्रमेणोक्ताः प्रतिपत्त्याः । प्रवचनं--प्रमाणाबाधित वचन जिनागममित्यर्थः । आत्मत--आत्मना तुल्यं शश्वदसत्त्ववियोगत्वात् । संवदति मोहसन्देहविपयासव्युदासेन व्यवस्यति । ततः--तं विज्ञातमर्थमाश्रित्य वाप्त्यातवाधिनान्वितर्कत (व्याप्त्या तथाविधान वितर्कयति) अपोहते--उक्तियुक्तिभ्या प्रत्यवायसंभवानया विरु ध्वानर्थान व्यावर्तयति सुधीः । एतेन घघनाः इति विशेषण व्याख्यातम् ॥१४॥

इस प्रकारकी स्थिति स्वाभाविक मानी गयी है । साराशं यह है--संसारी जीवष्--वह भव्य हो अथवा अभव्य हो--अनादिसे अशुद्ध है । यदि उसकी अशुद्धताको सादि माना जाये तो उससे पहले उसे शुद्ध मानना

होगा । और ऐसी स्थितिमें शुद्ध जीवके पुनः बनन असम्भव हो जायेगा क्योंकि शुद्धता बन्धनका कारा नहीं है । अशुद्धदशामे ही बन्ध सम्भवं है अतः अशुद्धि अनादि है और शुद्धि सादि है । जैसे स्वर्णपाषण विद्यमान सर्वाकी अशुद्धि अनादि है, शुद्धि सादी है । किन्तु अनपाषाणमे वर्तमान स्वर्ण अनादिसे अशुद्ध होनेपर भी कभी शुद्ध नहीं होता । अतः उसकी अशुद्धि अनादिके साथ अनन्त भी है ॥१३॥

आगे कहते है कि इस प्रकारका ही भव्य जीव उपदेशका पात्र है--

सम्यक्त्वसे युक्त समीचीन बुद्धिवाला जो भव्य जीव सदा प्रवचनको सुननेके लिए इच्छुक रहता है, और जो कुछ कहा जाता है उसे आदरपूर्वक सुनता है, सुनकर प्रयत्नपूर्वक उसके अर्थका निश्चय करता है, तथा प्रयत्नपूर्वक निश्चित किये उस अर्थको आत्माके समान यह मेरा है इस भावसे स्थिर रू पसे धारण करता है, जो उस विद्याके ज्ञाता होते है उनके साथ संवाद करके अपने सशय, विपर्यय और अनध्यवसायको दूर करता है, इतना ही नहीं, उस ज्ञात विषयसे सम्बद्ध अन्य अज्ञात विषयोके भी तर्क वितर्कसे जाननेका प्रयत्न करता है, तथा युक्ति और आगमसे जो विषय प्रमाणबाधित प्रतीत हाते है उनको हेय जानकर छोड देता है तथा प्रवचनके अर्थमे हेय, उपादेय और उपेक्षणीय रू पसे यथावत अभिप्राय रखता है, ऐसा ही भव्य जीव उपदेशका पात्र होता है ॥१४॥

विशेषार्थ--यद्यपि भव्य जीव ही उपदेशका पात्र होता है तथापि उसमे भी शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, विज्ञान, ऊह, अपोह और तत्त्वाभिनिवेश ये आठ गुण होना आवश्यक है । इन गुणासे युक्त समीचीन बुद्धिशाजी भव्य ही उपदेशका पात्र होता है । जैन उपदेशको प्रवचन कहा जाता है । घ्रड का अर्थ है प्रकृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष और अनुमानादि प्रमाणोसे अविरु ध्द वचनको ही प्रवचन कहते है । जैसे घसब अनेकान्तात्मक हैड इत्यादि वाक्य जिनागमके अनुकूल होनेसे प्रवचन कहलाता है । ऐसे प्रवचनका प्रवक्ता भी कल्याण का इच्छुक होना चाहिए, अपने और श्रोताआके कल्याणकी भांवानासे ही जो धर्मोपदेश करता है उसीकी बात सुननेके योग्य होती है । ऐसे प्रवक्तासे प्रवचन सुनने के लिए जो सदा इच्छुक रहता है, और ब सुननेको मिलता है तो जो कुछ कहा जाता है उसे आदरपूर्वक सुनता है, शास्त्रसभामे बैठकर ऊधता नहीं है और न गप्पबाजी करता है, सुन करके प्रवचनके

एवंविधप्रज्ञस्यापि सदुपदेश विना धर्मे प्रज्ञा न क्रमते इत्याचष्टे--

महामोतमश्छन्नं श्रेयोमार्गं न पश्यति ।

विपुलापि दृशालोकादिव श्रुतया विना मतिः ॥१५॥

दृक--चक्षुः, आलोकात्--प्रदीपादिप्रकाशात्, श्रुत्याः--धर्मश्रवणात्, ध्रुत्वा धर्म विजानातिड इत्यभिधानात् ॥१५॥

अथ शास्त्रसंस्कारान्मतेः परिच्छेदातिशयं शंसति--

दृष्टमात्रपरिच्छेत्री मतिः शास्त्रेकण संस्कृत ।

व्यनक्त्यदृष्टमप्यर्थं दर्पणेनेव दृडमखम ॥१६॥

मतिः--इच्छिग्रयानिनिच्छयनिमित्तवग्रहादिज्ञानम । शास्त्रेण--आप्तवचनादिजन्मना दृष्टादृष्टाथज्ञानेन । तदुक्तम--

मतिर्जागर्ति दृष्टेर्धे दृष्टेदृष्टे तथा गतिः ।

अतो न दुर्लभ तत्त्वं यदि निर्मत्सरं मनः ॥ [सोम. उपा. २५८ लशे.] ॥१६॥

अथ श्रोतृणा चातुर्विध्याद द्वयोरेव प्रतिपाद्यत्वं दृढयति--

अर्थको प्रयत्नपूर्वक ग्रहण करता है और जो ग्रहण करता है उसे इस तरह धारण करता है मानो वह उसका जीवन प्राण है उसके बिना वह जीवित नहीं रह सकता, उसके समझनेमें यदि कुछ सन्देह, विपरीतता या अनजानपना लगता है तो विशिष्ट ज्ञाताओके साथ बैठकर चर्चा वार्ता करके अपने सन्देह आदिको दूर करता है। फिर उस ज्ञात तत्त्वके प्रकाशमें तर्कवितर्क करके अन्य विषयोको भी सुदृढ करता है और यदि उसे यह ज्ञात होता है कि अबतक जो अमुक विषयोको हमने अमुक प्रकारसे समझा था वह प्रमाणबाधित है तो उसे छोड़कर अपनी गलतीमें सुधार कर लेता है, तथा प्रवचन सुनने आदिका मुख्य प्रयोजन तो हेतु और उपादेयका विचार करके अपने अभिप्राय यथार्था करना है, हेतुका हेतु रूपसे और उपादेयका उपउदेयरूपसे श्रद्धान करना है। अतः जो भव्य जीव इस प्रकारके बौद्धिक गुणोसे युक्त होता है वस्तुतःवही उपयुक्त श्रोता है ॥१४॥

आगेके कहते हैं कि इस प्रकारके बुद्धिशाली भव्य जीवकी मति भी सदुपदेशके बिना धर्ममें नहीं लगती--

जैसे दीपक आदिके प्रकाशके बिना खुली हुई बड़ी-बड़ी आँखें भी अन्धकारसे ढके हुए प्रशस्त मार्ग को नहीं देख सकती, वैसे ही धर्मश्रवणके बिना विशाल बुद्धि भी महामोहरू पी अन्धकारसे व्याप्त कल्याण-मार्गको नहीं देख सकती ॥१५॥

आगे शास्त्रके संस्कारसे जो बुद्धिमें ज्ञानातिशय होता है उसकी प्रशंसा करते हैं--

जैसे दर्पणके योगसे चक्षु स्वयं देखनेमें अशक्य भी मुखको देख लेती है वैसे ही इन्द्रिय और मनसे जानने योग्य वस्तुको ही जाननेवाली मति (मतिज्ञान) शास्त्रमें संस्कृत होकर अर्थात् शास्त्रश्रवणसे अतिशयोक्ति पाकर इन्द्रिय और मनके द्वारा जाननेमें अशक्य पदार्थको भी प्रकाशित करती है ॥१६॥

आगे चार प्रकारके श्रोताओंमें से दो प्रकारके श्रोता ही उपदेशके पात्र होते हैं इस बातका समर्थन करते हैं--

अव्युत्पन्नमनुप्रविश्य तदभिप्रायं प्रलोभ्याप्यलं,

कारु ण्यात्प्रतिपादयन्त सुधियो धर्म सदा शर्मदम ।

संदिग्धं पुरन्तमेत्य विनयात्पृच्छन्तमिच्छावशा-

न्न व्युत्पन्नविपर्ययाकुलमती व्युत्पत्त्यनर्थित्वतः ॥१७॥

प्रलोभ्य--लाभपूजादिना प्ररोचनामुत्पाद्य, इच्छावशांत--व्युत्पत्तिवाच्छानुरोधात् ।

विपर्ययाकुलमतिः--विपर्यस्तः ॥१७॥

ननु दृष्टफलाभिलाषदुषितमतिः कथं प्रतिपाद्य इत्याशङ्कका दृष्टान्तावष्टम्भेन निराचष्टे--

यः शृणोति यथा धर्ममनुवृत्त्यस्तथैव सः ।

भजन पथ्यमपथ्येन बालः किं नानुमोदते ॥१८॥

यथा--लाभपूजादिप्रलोभनप्राकरेण, अनुवृत्त्यः--अनुगम्यो न दूष्यः । पथ्यं--कटुतिक्तादिद्रव्यं व्याधिहरं, अपथ्येन--द्राक्षाशर्करादिना सह ॥१८॥

अथ विनयफलं दर्शयति--

वृद्धेष्वनुध्दताचारो ना महिम्नानुबध्यते ।

कुलशैलाननुत्क्रमन सारिध्दः पूर्यर्तोवः ॥१९॥

चार प्रकारके श्रोता हाते है--अव्युत्पन्न, सन्दिग्ध, व्युत्पन्न और विपर्यस्त । प्रवक्ता आचार्य धर्मके स्वरू पसे अनजान अव्युत्पन्न श्रोताको, उसके अभिप्रायके अनुसार धर्मसे मिलनेवाले लाभ, पूजा आदिका प्रलोभन देकर भी कृपाभांवासे सदा सुखदायी धर्मका उपदेश देते है । तथा धर्मके विषयमे सन्दिग्ध श्रोता विनयपूर्वक समीपमे आकर पूछता है कि यह ऐसे ही है या अन्य प्रकारसे है तो उसको समझानेकी भावनासे धर्मका उपदेश देते है । किन्तु जो धर्मका ज्ञाता व्युत्पन्न श्रोता है अथवा विपरीत ज्ञानके कारण जिसकी मति विपरीत है, शास्त्रोक्त धर्मका अन्यथा समर्थन करनेके लिए कटिबद्ध है, ऐसे विपर्यस्त श्रोताको धर्मका उपदेश नही देते है क्योकि व्युत्पन्न श्रोता तो धर्मको जानता है और विपर्यस्त श्रोता धर्मसे द्वेष रखता है ॥१७॥

यहाँ यह शंका होती है कि लौकिक फलकी इच्छसे जिसकी मति दूषित है वह कैसे उपदेशका पात्र है, इस आशंकाका निराकरा दृष्टान्त द्वारा करते है--

जो जिस प्रकार धर्मको सनता है उसे उसी प्रकार धर्म सुनाना चाहिए । क्या अपथ्यके द्वारा पथ्यका सेवन करनेवाले बालककी सब अनुमोदना नही करते है ॥१८॥

विशेषार्थ--जैसे बालक रोग दूर करनेके लिए कटुक औषधिका सेवन यदि नही करता तो माता-पिता मिठाई वगैरहका लालच देकर उसे कटुक औषधि खिलाते है । यद्यपि मिठाई उसके लिए हितकारी नही है । तथा जब बालक मिठाईके लोभसे कटुक औषधि खाता है तो माता-पिता उसकी प्रशंसा करते है कि बडा अच्छा लडका है । उसी प्रकार जो सांसारिक प्रलोभनके बिना धर्मकी और आकृष्ट नही होते उन्हे सांसारिक सुखका प्रलोभन देकर धर्म सुनाना बुरा नही है । यद्यपि सांसारिक सुख अहितकर है, किन्तु धर्म सुननेसे वह उसे अहितकर जानकर छोड सकेगा, इसी भांवासे ऐसा किया जाता है ॥१८॥

आगे विनयका फल बतलाते है--

तप, श्रुत आदिमे ज्येष्ठ गुरु जनोके प्रति विनम्र व्यवहार करनेवाला मनुष्य नित्य ही

वृद्धेषु इतपः श्रुतादिज्येष्ठेषु, ना महिम्ना--ना पुमान्, महिम्ना--लोकोत्तरानुभावेन, अथवा न अमहिम्ना तर्हि ? महात्येनैव, अनुबध्यते--नित्यमधिष्ठीयते । कुलशैलान--एक-द्व-चतुर्यो जनशेतोच्चितान हिमवदादीन अनुत्क्रमन--अनुल्लध्य वर्तमानः ॥१९॥

अथ व्युत्पन्नस्याप्रतिपाद्यत्वं दृष्टान्तेन समर्थयते--

यो यद्विजानाति स तन्न शिष्यो

यो वा न यदृष्टि स तन्न लभ्यः ।

को दीपयेध्दामनिधि हि दीपैः

कः पूरयेध्दामबुनिधि पयोभिः ॥२०॥

वष्टि--कामयति ॥२०॥

अथ विपर्यस्तस्य प्रतिपाद्यत्वे दोषं दर्शयति--

यत्र मुष्णाति वा शुद्धिच्छायां पुष्णाति वा तमः ।

गुरु वित्तज्योतिरु न्मीलत कस्तत्रोन्मीलयेदगिरम ॥२१॥

शुद्धच्छाया--अभ्रान्ति वा चित्तप्रसत्तिम् । तमः--विपरीताभिनिवेशम् ॥२१॥

अथैवं प्रतिपादकप्रतिपाद्यौ प्रतिपाद्य तत्प्रवृत्त्यडतया सिद्धं धर्मफल निर्दिशति--

लोकोत्तर महात्म्यसे परिपूरित होता है । ठीक ही है--हिमवान आदि कुलपर्वतोका उल्लंघन न करनेवाला समुद्र गंगा आदि नदियोंकेद्वारा भंरा जाता है ॥१९॥

व्युत्पन्न पुरुष उपदेशका पात्र नहीं है, इसका समर्थन दृष्टान्त द्वारा करते हैं--

जो पुरुष जिस वस्तुको अच्छी रीतिसे जानता है उसे उस वस्तुका शिक्षण देनेकी आवश्यकता नहीं है और जो पुरुष जिस वस्तुको नहीं चाहता उसे उस वस्तुको देना अनावश्यक है । कौन मनुष्य सूर्यको दीपकोके द्वारा प्रकाशित करता है और कौन मनुष्य समुद्रको जलसे भरता है ? अर्थात् जैसे सूर्यको दीपक दिखाना और समुद्रको जलसे भरना व्यर्थ है क्योंकि सूर्य स्वयं प्रकाशमान है और समुद्रमे अथाह जल है, वैसे ही ज्ञानी पुरुषको उपदेश देना व्यर्थ क्योंकि वह तो स्वयं ज्ञानी है ॥२०॥

आगे विपर्यस्त श्रोताको उपदेश देनेमे दोष बतलाते हैं--

गुरु की उक्तिरूपी ज्योति प्रकाशित होते ही जिसमे वर्तमान शुद्धिकी छायाको हर लेती है और अन्धकारको बढ़ाती है उसे कौन उपदेश कर सकेगा ॥२१॥

विशेषार्थ--गुरु के वचन दीपकके तुल्य है । दीपकके प्रकाशित होते ही यदि प्रकाशके स्थान पर अन्धकार ही बढ़ता हो तो ऐसे स्थानपर कौन दीपक जलाना पसन्द करेगा । उसी तरह गुरु के वचनको सुनकर जिसके चित्तमे वर्तमान थोड़ी-सी भी शान्ति नष्ट हो जाती हो और उलटा विपरीत अभिनिवेश ही पुष्ट होता हो तो ऐसे व्यक्तिको उपदेश देनेसे क्या लाभ है ? उसे कोई भी बुद्धिमान प्रवक्ता उपदेश देना पसन्द नहीं कर सकता ॥२१॥

धर्मके फलको सुनकर धर्ममे प्रवृत्ति होती है इस तरह धर्मका फल भी धर्ममे प्रवृत्तिका एक अंग है । इसलिए वक्ता और श्रोताका स्वरूप बतलाकर ग्रन्थकार धर्मके फलका कथन करते हैं--

सुखं दुःखनिवृत्तिश्च पुरुषार्थावुभौ स्मृतौ ।

धर्मस्तत्कारणं सम्यक् सर्वेषामविगानतः ॥२२॥

उभौ--द्वावेव सुखाद दुःखनिवृत्तेश्चातिरिक्तस्य सर्वे (सर्वेषाम)--पुरुषाणामभिलाषाविषयत्वात् ।
सर्वेषा लौकिकपीरक्षकाणां अविगानतः--अविपतिपत्तेः ॥२२॥

अथोक्तमेवार्थं प्रपच्चयितुं मुख्यफलसंपादनपरस्य धर्मस्यानुशङ्किकफलसर्वस्वमभिनन्दति--

येन मुक्तिश्रिये पंसि वास्यमाने जगच्छ्रियः ।

स्वयं रज्यन्त्ययं धर्मः केन वर्यानुभवात् ॥२३॥

वास्यमाने--अनुराज्यमाने आश्रीयमाणे वा जगच्छ्रियः । अन्नागमो यथा--

घसंपज्जदि णिव्वाणं देवासुरमणुयरायविहवेहि ।

जीवस्स चरित्तादो दंसणणाणपहाणादो ॥३--प्रवचनसार १।६

पूर्वाचार्योर्ने सुख और दुःखसे निवृत्ति ये दो पुरुषार्थ माने हैं। उनका कारण सच्चा धर्म है इसमें किसीको भी विवाद नहीं है ॥२२॥

विशेषार्थ--यद्यपि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ सभीने स्वीकार किये हैं। जो पुरुषोकी अभिलाषाका विषय होता है उसे पुरुषार्थ कहते हैं। सभी पुरुष ही नहीं, प्राणिमात्र चाहते हैं कि हमें सुखकी प्राप्ति हो और दुःखसे हमारा छुटकारा हो। उक्त चार पुरुषार्थोंका भी मूल प्रयोजन सुखकी प्राप्ति और दुःखसे हमारा छुटकारा हो। उक्त चार पुरुषार्थोंका भी मूल प्रयोजन सुखकी प्राप्ति और दुःखसे निवृत्ति ही है। अतः इन दोनोंको पुरुषार्थ कहा है। यद्यपि दुःखसे निवृत्ति और सुखकी प्राप्ति होनेसे दुःखकी निवृत्ति होती है, तथापि वैशेषिक आदि दर्शन मुक्तावस्थामें दुःखानिवृत्ति तो मानते हैं किन्तु सुखानुभूति नहीं मानते। इसलिए ग्रन्थकारने दोनोंको गिनाया है। वैशेषिक दर्शनमें कहा है--

बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार इन नौ आत्मगुणोंका अत्यन्त विनाश हो जाना मोक्ष है। उक्त दोनों पुरुषार्थोंका कारण धर्म है यह सभीने स्वीकार किया है। जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति हो उसे मोक्ष कहते हैं। मोक्षका यह लक्षण सभीने माना है।

यतः धर्मका फल सुखप्राप्ति और दुःखनिवृत्ति है अतः उसमें प्रवृत्ति करना योग्य है ॥२२॥

उक्त अर्थको ही स्पष्ट करनेके लिए मुख्यफलको देनेमें समर्थ धर्मके समस्त आनुशक्तिक फलका अभिनन्दन करते हैं--

मुक्तिरूपी लक्ष्मीकी प्राप्तिके लिए जिस धर्मका धारण करनेवाले मनुष्यपर संसारकी लक्ष्मियों स्वयं अनुरक्त होती हैं उसे धर्मके महात्म्य का वर्णन कौन कर सकनेमें समर्थ है ? ॥२३॥

विशेषार्थ--धर्मपालनका मुख्य फल है संसारके दुःखोंसे छुटकर उत्तम सुखस्वरूप माक्षकी प्राप्ति। आचार्य समन्तभद्रने अपने रत्नकरण्ड श्रावकाचारके प्रारम्भमें धर्मका

१. वैशेषिक दर्शनमें कहा है--घ्यतोभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः । महापुराणमें आचार्य जिनसेनने कहा है-- घ्यतोभ्युदयनिःश्रेयसार्थसिद्धिः सुनिश्चिता स धर्मः ॥५१२०॥

केन न कनापि ब्रम्हादिना अनुभवावतः कार्य वाश्रित्य ॥२३॥

ननु कथमेतन्मोक्षबन्धफयोरेककारणत्वं न विरुध्यते--

निरुध्यति नवं पापमुपात्तं क्षपयत्यपि ।

धर्मनुरागाद्यत्कर्म स धर्मोभ्युदयप्रदः ॥२४॥

क्षपयति एकदेशेन नाशयति सति धर्मं सम्यग्दर्शनादियोगपद्यप्रवृत्तैकत्वलक्षणे शुद्धात्मपरिणामे । यतः कर्म सद्देद्यशुभ्यायुर्नामगोत्रलक्षण पुण्यं स धर्मः । यथोक्तधर्मानुरागहेतुकोपि पुण्यबन्धो धर्म इत्युपचर्यते । निमित्तं चोपचारस्यैकार्थसंबन्धितम् । प्रयोजन पुनर्लोकशास्त्रव्यवहारः लोके यथा-- घस्याधर्ममस्त्रियौ पुण्यश्रेयसी सुसृतं वृषः" [अमरकोश १।४।२४] इति

कथन करनेकी प्रतिज्ञा करते हुए भी धर्मके इसी फलका कथन किया है यथा--

धर्म कर्मबन्धनको नष्ट करनेवाले समीचीन धर्मका कथन करता हूँ जो प्राणियोंको संसारके दुःखसे छुडाकर उत्तम सुखमें धरता है ।

इस मुख्यफलके साथ धर्मका आनुशंगिक फल भी है वह है सांसारिक सुखोकी प्राप्ति । जो मोक्षकेलिए धर्माचरण करता है उसे उत्तम देवपद, राजपद आदि अनायास प्राप्त हो जाते हैं ॥२३॥

इससे यह शंका है कि उत्तम देवपद आदि सांसारिक सुख तो पुण्यबन्धसे प्राप्त होता है और मोक्ष पुण्यबन्धकेभी अभावमे होता है । तो एक ही धर्मरूप कारणसे मोक्ष और बन्ध कैसे सम्भव हो सकता है ? मोक्ष और बन्धका एक कारण होनेमे विरोध क्यों नहीं है । इसका उत्तर देते हैं--

नवीन पापबन्धको रोकनेवाले और पूर्वबद्ध पापकर्मका क्षय करनेवाले धर्ममे अनुराग होनेसे जो पुण्यकर्मका बन्ध होता है वह भी धर्म कहा जाता है और वह धर्म अभ्युदयेको--स्वर्ग आदिकी सम्पदाको देता है ॥२४॥

विशेषार्थ--प्रश्नकर्ताका प्रश्न था कि धर्मसे मोक्ष और लौकिक अभ्युदय दोनों कैसे सम्भव है ? मोक्ष कर्मबन्धके नाशसे मिलता है और लौकिक अयुदय पुण्यबन्धसे मिलते हैं । इसके उत्तरमे ग्रन्थकार कहते हैं कि नवीन पापबन्धको रोकनेवाले और पुराने बँधे हुए पापकर्मका एकदेशसे नाश करनेवाले धर्ममे विशेष प्रीति करनेसे जो सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्ररूप पुण्यकर्मका बन्ध होता है उसे भी उपचारसे धर्म कहा है और उस धर्मसे स्वर्गादि रूप लौकिक अभ्युदयकी प्राप्ति होती है । यथार्थमे तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमे एक साथ प्रवृत्त एकाग्रतारूप शुद्ध आत्मपरिणामका नाम धर्म है । आचार्य कुन्दकुन्दने प्रवचनसारके प्रारम्भमे धर्मका स्वरूप बतलाते हुए कहा है--

घनिश्चयसे चारित्र धर्म है ओर जो धर्म है उसे ही समभाव कहा है । तथं मोह और क्षोभसे रहित आत्माका परिणाम सम है । ॐ

१. घ्देशयामि समीचीन धर्म कर्मनिवर्हणम्^१

संसारदुःखतः सत्त्वान यो धरत्युत्तमे सुखे ॥--रत्न. श्रा., २ श्लो. ।

घ्चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिहित्तो ।

मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो ह समो ॥

--प्रव., गा. ७ ।

शास्त्रे यथा--

धर्मादवाप्तविभवो धर्म प्रतिपाल्य भोगमनुभवतु ।

बीजादवाप्तध्यान्यः कृषीबलस्तस्य बीजमिव ॥--[आत्मानु., २१ श्लो.]

अपि च--

घ्यस्मादभ्युदयः पुंसां निश्रेयसफलाश्रयः ।

वदन्ति विदिताम्नायास्तं धर्म धर्मसूरयः ॥२४॥

--[सोम. उपा., २१ लो.]

इन्ही आचार्य कुन्दकुन्दने अपने भावपाहुडमे धर्म और पुण्यका भेद करते हुए कहा है--

घजिनेन्द्र भगवानके द्वारा अपने धर्मोपदेशमे कहा गया है कि देवपूजा आदिके साथ व्रताचरण करना पुण्य है । और मोह और क्षोभसे रहित आत्माकेपरिणामको धर्म कहते हैं ।

ऐसे धर्ममे अनुरीग करनेसे जो पुण्यबन्ध होता है उसे भी उपचारसे धर्म कहते हैं। शास्त्रोमे कहा है कि प्रयोजन और निमित्तमे उपचारकी प्रवृत्ति होती है। पुण्यको उपचारसे धर्म कहनेका प्रयोन यह है कि लोकमे और शास्त्रे पुण्यके लिए धर्म शब्दका व्यवहार किया जाता है। लोकमे शब्दकोशोमे पुण्यको धर्म शब्दसे कहा है।

शास्त्रोमे भी पुण्यको धर्म शब्दसे कहा है। पहले लिख आये हैं कि आचार्य जिनसेनने जिससे सांसारिक अभ्युदयकी प्राप्ति होती है उसे भी धर्म कहा है। तथा उनकेशिष्य आचार्य गुणभद्रने कहा है--

छजैसे किसान बीजसे धान्य प्राप्त करके उसे भोगता भी है और भविष्यकेलिए कुछ बीज सुरक्षित भी रखता है उसी प्रकार धर्मसे सुख-सम्पत्तिको पाकर धर्मका पालन करते हुए भोगोका अनुभवन कर
।६६

यहाँ भी पुण्यके लिए ही धर्म शब्दका व्यवहार किया गया है। इस तरह लोकमे शास्त्रोमे पुण्यको भी धर्म कहा जाता है। यह प्रयोजन है उपचारका और निमित्त है धर्म और पुण्यका एकार्थसम्बन्धी होना। धर्मका प्रारम्भ सम्यग्दर्शन होता है। सात तत्त्वोका यथार्थ श्रद्धदान करके निज शुद्धात्मा ही उपादेय है इस प्रकारकी रू चिका नाम सम्यग्दर्शन है सम्यग्दृष्टि पुण्य और पाप दोनोको ही हेय मानता है फिर भी पुण्यबन्धसे बचता नहीं है। हेय मानकर भी वह पुण्यबन्ध कैसे करता है इसे एक दृष्टान्तके द्वारा ब्रम्हदेवजीने द्रव्य संग्रह [गा. ३८] की टीकामे इस प्रकार स्पष्ट किया है--जैसे कोई पुरुष किसी अन्य देशमे स्थित किसी सुन्दरीके पाससे आये हुए मनुष्योका उस सुन्दरीकी प्राप्तिके लिए दान-सम्मान आदि करता है उसी तरह सम्यग्दृष्टि भी उपादेय रू पसे अपने शुद्ध आत्माकी ही भावना करता है, परन्तु चारित्र मोहके उदयसे उसमे असमर्थ होनेपर निर्दोष परमात्मस्वरूप अर्हन्तो और सिद्धोकी तथा उनके आराधक आचार्य उपाध्याय और साधुओकी दान-पुजा आदिसे

१ पूयादिसु वयसहिय पुण्ण हि जिणेहि सासणे भणिय ।

मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥६

--भा. पा., गा. ८१ ।

अथ धर्मस्यानुषडिकफलदानपुरस्सरं मुख्यफलसंपादनमुपदिशति--

धर्माद दृकफलमभ्युदेति करणैरु दगीर्यमाणोनिशं,

यत्प्रीणाति मनो वहन भवरससो यत्पुस्यवस्थान्तरम ।

स्याज्जमन्मज्जरसंज्वरव्युपरमोपक्रम्य निस्सीम तत,

तादृक शर्म सुखाम्बुधिप्लवमयं सेवाफलं त्वस्य तत ॥२५॥

दृकफल--दृष्टिफल धर्मविषयश्रद्धदानजनितपुयसाध्यमित्यर्थः । यथा राजादेः सकाशादागन्तुसेवकस्य दृष्टिफल सेवका(सेवा)फल च द्वे स्त इत्युक्तिलेशः । करणेः--चक्षुरादिभिः श्रीकरणादिनियुक्तैश्च । भंवरसः--संसारसारमिन्द्रादिपदं ग्रामा-सुवर्ण-वस्तु-वाहनादि च । पुंसि--जीवे सेवकपुरुषे च । अवस्थान्तरं--अशरीरत्वं सामन्तादिपदं च । संज्वरः--संतापः । प्लवः--अवगाहनम । अस्य धर्मस्य । तदुक्तम--

तथा उनके गुणोंके स्तवन आदिसे परम भक्ति करता है। इस भक्तिका उद्येशय भी परमात्मपद की प्राप्ति ही होता है। तथा प्रयोजन होता है विषय कशांयसे मनको रोकना। न तो उसके इस भव-सम्बन्धी भोगोकी चाह होती है और न परभव-सम्बन्धी भोगोकी चाह होती है। उस पुण्यबन्धसे वह मरकर स्वर्गमे देव--इन्द्र आदि होता है और वहाँ भी स्वर्गकी सम्पदाको जीर्ण तृणके समान मानता है। वहाँसे वन्दनाके लिए विदेह क्षेत्रमे जाकर देखता है कि समवसरणमे वीतराग जिनदेव विराजमान है, भेद रूप या अभेद रूप रत्नत्रयके आराधक गणधर देव विराजमान है। उससे उसकी आस्था धर्ममे और भी दृढ हो जाती है। वह चतुर्थ गुणस्थानके योग्य अपनी अविरत अवस्थांको नहीं छोडते हुए भोगोको भोगते हुए भी धर्मध्यान पूर्वक काल बिताकर स्वर्गसे च्युत होकर मनुष्य पर्यायमे जन्म लेता है किन्तु तीर्थकर चक्रवर्ती आदि पद पाने पर भी मोह नहीं करता और जिनदीक्षा लेकर पुण्य और पाप दोनोसे रहित निज परमात्माके ध्यानसे मोक्ष प्राप्त करता है। किन्तु मिथ्यादृष्टि तीव्र निदान पूर्वक बाँधे गये पुण्यसे भोगोको प्राप्त करके रावणकी तरह नरकमे जाता है।

इस तरह धर्म और पुण्य दोनो एकार्थासम्बन्धी है इसलिए पुण्यको उपचारसे धर्म काह है। वस्तुतः पुण्य धर्म नहीं है। धर्म पुण्यसे बहुत ऊँची वस्तु है। जब तक पुण्य है संसारमे छुटकारा सम्भव नहीं है। पापकी तरह पुण्यसे भी मुक्ती मिलने पर ही संसारसे मुक्ति मिलती है ॥२४॥

आगे कहते है कि धर्म आनुष्ंगिक फलदानपूर्वक मुख्य फलको भी पूर्णतया देता है--

जैसे राजाके समीप आनेवाले सेवकको दृष्टिफल और सेवाफलकी प्राप्ति होती है वैसे ही धर्मका सेवन करनेवालेको धर्मसे ये दो फल प्राप्त होते है। इन्द्रियोके द्वारा होनेवाला और दिन-रात रहनेवाला जो संसारका रस मनको प्रसन्न करता है वह दृष्टिफल है। तथा संसाररूप महाज्वरके विनाशसे उत्पन्न होनेवाला अमर्याद अनिर्वचनीय आगमप्रसिद्ध सुख रूपी अमृतके समुद्रमे अवगाहन रूप जो पुरुषकी अवस्थान्तर है--संसार अवस्थासे विपरीत आत्मिक अवस्था है उसकी प्राप्ति सेवाफल है ॥२५॥

विशेषार्थ--राजा आदिके समीपमे आनेवाले सेवकको दो फलोकी प्राप्ति होती है। प्रथम दर्शनमे राजा उसे ग्राम, सोना, वस्त्र आदि देता है। यह तो दृष्टिफल या राजदर्शन फल है और सेवा करने पर उसे सामन्त आदि बना देता है यह सेवाफल है। इसी तरह

दिद्धा अण्दिमिच्छादिठठी जम्हा खणेण सिद्धा य।

आराधया चरित्तस्स तो आराधांसारे ॥२५॥--[भ. आरा. १७ गा.]

अथ त्रयोविशत्या वृत्तैरभ्युदयलक्षण धर्मफलं वर्णयति, तत्रादौ तावत् समामतः (सामान्यत)--

वंशे विश्वमहिन्मि जन्म ममि काम्यः समेषां शमो,

मन्दाक्ष सतुपोजषां श्रुतमृषिब्रम्हसिद्धिसंघर्षकृत।

त्यागः श्रीददुराधिदाननिरनुक्रेशः प्रतापो रिपु-

स्त्री श्रडउरगरस्तरडितजगधर्माद्यशश्चाडिनाम ॥२६॥

विश्वमहिन्मि--जगदव्यापिमाहात्मये, समेषा--सर्वेषाम। मन्दाक्षं--लज्जा। ब्रम्हाधिर्दः--इ
 ानातिशयः। संहर्षः (संघर्षः)--स्पर्धा। श्रीदः--कुबेरः। निरनुक्रेशः--निर्दयः। गरः--कृत्रिमविषम।
 तरडितइतरडवदाचरित स्वल्पीभूतमित्यर्थः ॥२६॥

बुद्धादिसामग्रयपि फदाने पुण्मुख पेक्षत एवेत्याह--

धीस्तीक्षणानुगुणः कालो व्यवसायः सुसाहसः।

धर्मका सेवन करनेवालेको भी दो फलोकी प्राप्ति होती है । उसे मनको प्रसन्न करनेवाला सांसारिक सुख मिलता है । दृष्टिफलका मतलब है--धर्मविषयक श्रद्धानसे होनेवाले पुण्यका फल । सांसारिक सुख उसीका फल है । तथा धर्मका सेवन करते हुए निज शुद्धात्म तत्त्वकी भावनाके फलस्वरूप जो शुद्धात्म स्वरूपकी प्राप्ति होती है जो अनन्त सुखका समुद्र है वह सेवाफल है । इस तरह धर्मसे आनुषंगिक सांसारिक सुखपूर्वक मुख्य फल मोक्षकी प्राप्ति होता है ॥२५॥

आगे तेईस पद्योके द्वारा धर्मके अभ्युदयरूप फलका वर्णन करते हैं । उनमेंसे प्रथम चौदह श्लोकोकेद्वारा सामान्य रूपसे उसे स्पष्ट करते हैं--

धर्मसे प्राणियोंको ऐसे वंशमें जन्म होता है जिसकी महिमा जगत-व्यापी है अर्थात् जिसकी महिमा तीर्थकर आदि पदको प्राप्त कराने में समर्थ होती है । धर्मसे प्राणियोंके ऐसे तीर्थकर आदि पद प्राप्त होते हैं जिनकी चाह सब लोग करते हैं । अपराध करनेवालोको दण्ड देनेकी सामर्थ्य होते हुए भी धर्म से ऐसी सहन शक्ति प्राप्त होती है जिसे देखकर अच्छे-अच्छे तपस्वियोंकी भी दृष्टि लज्जासे झुक जाती है । धर्मसे प्राणियोंको ऐसा श्रुतज्ञान प्राप्त होता है जो तपोबलकेद्वारा बुद्धि आदि ऋद्धिको प्राप्त ऋषियोंके ज्ञानातिशयसे भी टक्कर लेता है । धर्मसे प्राणियोंको दान देनेकी ऐसी क्षमता प्राप्त होती है जो कुबेरके मनको भी निर्दयतापूर्वक व्यथित करती है । धर्मसे प्राणियोंको ऐसा प्रताप प्राप्त होता है जो शत्रुओंकी स्त्रियोंके श्रद्धाकरके लिए विषके समान है । तथा धर्मसे ऐसा यश प्राप्त होता है जिसमें जगत एक लहरकी तरह प्रतीत होता है अर्थात् तीनो लोकोंमें व्याप्त होता हुआ वह यश अलोकको भी व्याप्त करनेके लिए तत्पर होता है ॥२६॥

आगे कहते हैं कि बुद्धि आदि सामग्री भी अपना फल देनेमें पुण्यका ही मुख देखा करती है--

कुशके अग्रभागके समान तीक्ष्ण बुद्धि, कार्यके अनुकूल समय, कार्यके प्रति साहसपूर्ण अध्यवसाय, बढ़ता हुआ धैर्य और वृद्धिगत उत्साह, ये सब पुण्यके बिना व्यर्थ हैं अर्थात्

अनुगुणः--कार्यं प्रत्युपकारी । व्यवसायः--क्रिया प्रत्युद्यमः । सुसाहसः--यत्र नाहमित्यध्यवसायस्तत्साहसं, स्वाम्यं यवास्ति (सोय यत्रास्ति) । उद्यत--आरोहत प्रकर्षम । तथा चोक्तम्--

आदौ पश्यति बुद्धिर्व्यवसायो हीनकालमारभते ।

धैर्यं व्यूढमहाभरमुत्साहः साधयत्यर्थम् ॥ []

ऋते विना ॥२७॥

ननु यदीष्टसिद्धौ पुण्यस्य स्वातन्त्र्यं तत्किमेतत् स्वकर्तुस्तत्र क्रियामपेक्षते इति प्रश्ने सति प्रत्यक्ष मुत्तरयति-

मनस्विनामीप्सितवस्तुलाभाद्रम्योभिमानः सुतरामितीव ।

पुण्यं सुहृत्पौरुषदुर्मदाना क्रियाः करोतीष्टफलाप्तिदृप्ताः ॥२८॥

मनस्विना मानिनाम् ॥२८॥

विशिष्ट आयुरादयापि पुण्योदयनिमित्ता एवेत्यावेदयति--

आयुः श्रेयोनुबन्धि प्रचुरमुरु गुण वज्रसारः शरीरं,

श्रीस्त्यागप्रायभोगा सततमुदयनी धीः परार्ध्या श्रुताढ्या ।
गीरादेया सदस्या व्यवहतिरपथोन्माथिनी सध्दिरथ्या,
स्वाम्यं प्रतयर्थिकाम्यं प्रणयिपरवशं प्राणिना पुण्यपाकात् ॥२९॥

पुण्यका उदय होने पर ही ये सब प्राप्त होते हैं और पुण्यके उदयमे ही कार्यकारी होते हैं ॥२७॥

यदि इष्टकी सिद्धिमे पुण्य कर्म स्वतन्त्र है अर्थात् यदि पुण्यके ही प्रातापसे कार्यसिद्धि होती है तो पुण्य अपने कर्ताके क्रियाकी अपेक्षा कयो करता है अर्थात् बिना कुछ किये पुण्यसे ही इष्टसिद्धि कयो नहीं होती इस प्रश्नका उत्तर उत्प्रेरक्षापूर्वक देते हैं--

अभिमानी पुरुषोको इच्छित वस्तुका हो जाने पर अत्यन्त मनोरम अभिमान हुआ करता है । मानो इसीलिए छलरहित उपकारक पुण्य अपने पौरुषका मिथ्या अहंकार करनेवालोकी क्रियाओको-- कार्योको इष्टफलकी प्राप्तिके अभिमानरससे रंजित कर देता है । अर्थात् इष्टफलकी प्राप्ति तो पुण्यके प्रातापसे होती है किन्तु मनुष्य मिथ्या अहंकार करते हैं कि हमने अपने पौरुषसे प्राप्ति की है ॥२८॥

आगे कहते हैं कि विशिष्ट आयु आदि भी पुण्योदयके निमित्तसे ही होती है--

पुण्य कर्मके उदयसे प्राणियोको सतत कल्याणकारी उत्कृष्ट आयु प्राप्त होती है, सौरुष्य आदि गुणासे युक्त तथा वज्रकी तरह अभेद्य शरीर प्राप्त होता है, जीवन पर्यन्त दिनोदिन बढनेवाली तथा प्रायः करके अर्थीजनोके भोगमे आनेवाली लक्ष्मी प्राप्त होती है, सेवा आदि गुणोसे सम्पन्न होनेके कारण उत्कृष्ट तथा शास्त्रज्ञानसे समृद्ध बुद्धि प्राप्त होती है, सभंके योग्य और सबके द्वारा आदरणीय वाणी प्राप्त होती है, साधु जनोके द्वारा अभिलक्षणीय तथा दूसरोको कुमार्गसे बचानेवाला हितमे प्रवृत्ति और अहितसे निवृत्तिरूप व्यवहार प्राप्त होता है, तथा शत्रु भी जिसकी अभिलाषा करते हैं कि हम भी ऐसे हो, ऐसा प्रभुत्व प्राप्त होता है जो केवल प्रियजनोकी ही परवशता स्वीकार करता है । ये सब पुण्यकर्मके उदयके निमित्तसे प्राप्त होते हैं ॥२९॥

श्रेयोनुन्धि--अविच्छिन्नकल्याणम् । वज्रसारः--वज्रस्य सार इव अभि(भ-) द्यतमत्वात् ।
त्यागप्रायभोगाः--त्यागोर्धिषु संविभागः प्रायेण बाहुल्येन भोगे अनुभवे यस्याः । सतत--यावज्जीवम् ।
उदयिनी--दिने दिने वर्धमाना । परार्ध्या--उत्कृष्टा शुश्रूषादिगुणसंपन्नत्वात् । आदेया--अनुल्लङ्घ्या ।
सदस्याइसभायां पटवी । व्यवहतिः--हिते प्रवृत्तिरहितान्निवृत्तिश्च । प्रणयिपरवशं--बन्धुमित्रादीनामेव
परतन्त्रं न शत्रूणाम् ॥२९॥

अथ पुण्यस्य बहुफलयोगपद्यं दर्शयति--

चिदभूम्युत्थः प्रकृतिशिखरिश्रणिरापूरिताशा-

चक्रं सज्जीकृतरसभरः स्वच्छभांवाम्बुरु रैः ।

नानाशक्ति-प्रसव-विसरः साधुपान्थौधसेव्यः,

पुण्यारामः फलति सुकृता प्रार्थितोल्लुम्बिशोर्थान् ॥३०॥

चित्त--चेतना पुण्यस्य जीवोपश्लिष्टत्वात् । प्रकृतयः--सद्वेद्यादयः । शिखरिणः--वृक्षाः । आशाः--
भविष्यार्थवाच्छा दिशश्च । रसः--विपाको मधुरादिश्च । भावः--परिणामः । विसरः--समूहः । सुष्ठु--
शोभन तपोदानादिकृतवताम् । लुम्बिशः--त्रिचतुरादिफलस्तोम प्रशस्त कृत्वा ॥३०॥

अथ सहभाविवाच्छितार्थफलस्तोम पुण्यस्य लक्षयति--

पित्र्यैर्वैनयिवैश्च विक्रमकलासौन्दर्यचर्यादिभी-

गौष्ठीनिष्ठरसैर्नूणां पृथगपि प्राथ्यः प्रतीतो गुणैः ।

सम्यकसिन्ध-विदग्ध-मित्रसरसालापोलसमन्मानसो,

धन्यः सौधतलेखितुमधुरे कान्तेक्षणैः पीयते ॥३१॥

आगे बतलाते है कि पुण्यसे एक साथ बहुत फल प्राप्त होते है--

पुण्य उपवनके तुल्य है । यह पुण्यरूपी उपवन चित्तरूपी भूमिमें उगता है, इसमें कर्मप्रकृतिरूपी वृक्षोकी पकितियाँ हाती है । उपवन दिशाचक्रको अपने फलभारसे धरे होता है, पुण्य भी भविष्यके मनोरथोंसे पूरित होता है । उपवन स्वच्छ जलके समूहके कारण रसभारसे भरपूर रहता है अर्थात् जितने ही अधिक मन्द कषायको लिये हुए निर्मल परिणाम होते है उतना ही अधिक शुभ प्रकृतियोंमें फलदानकी शक्ति प्रचुर होती है । उपवन नाना प्रकारके फूलोंके ही फल उगते है अतः शक्तिको पुलोकी उपमा दी है । उपवनमें सदा पथिक न आते रहते है । पुण्य भी साधुजनोके द्वारा सेवनयी होता है । यहाँ साधुजनसे धर्म, अर्थ और कामका सेवन करनेवाले लेना चाहिए ।

इस तरह पुण्यरूपी उपवनमें दान तप आदि करनेवाले पुण्यशालियोंके द्वारा प्रार्थित पदार्थ प्रचुर रूपमें फलते है ॥३०॥

आगे कहते है कि पुण्यसे बहुत सहभावी इच्छित पदार्थ फलरूपमें प्राप्त होते है--

माता-पितासे आये हुए और शिक्षासे प्राप्त विक्रम, कला, सौन्दर्य, आचार आदि गुणोंसे, जिनकी चर्चा पारस्परिक गोष्ठीमें भी आनन्ददायक होती है और जिनमेंसे मनुष्य एक एक गुणको भी प्राप्त करनेके इच्छुक रहते है, सबकी तो बात ही क्या है ? ऐसे गुणोंसे युक्त पुण्यशाली मनुष्य सब ऋतुओंमें सुखदायक महलके रूपमें कान्ताके नयनोंके द्वारा अनु-

पित्र्यैः--पितृभ्यागमतैः आभिजनैरित्यर्थः । वैनयिके--शिक्षाप्रभवैराहर्यैरित्यर्थः । तत्र विक्रमसौन्दर्यपियंवदत्वादयः सहजा कलाचर्या मैत्र्यादयः अहार्याः गोष्ठीनिष्ठरसैः--लक्षणया सदा समुदितैः । पृथक--एकैकशः । पीयते--अत्यन्तमालैक्यते ॥३१॥

अथैवं पुण्यवतः स्वगता गुणसंपर्ति प्रदर्श्य कान्तागता ता प्रकाशयति--

साध्वीस्त्रियवर्गविधिसाधनसावधानाः,

कोपोपदंशमधुरप्रणयानुभावाः ।

लावण्यवारितरगात्रलताः समान-

सौख्यासुखाः सुकृतिनः सुदृशो लभन्ते ॥३२॥ []

लावण्यवारितराः--अतिशायिनि कान्तिमत्त्वे जलवदव्यापिनि तरन्त्य इव लता । प्राशस्त्यं कार्श्यं वा द्योतयतीदम । असुख--दुःखम । तच्चत्र प्रणयभडादिकृतमेव न व्याध्यादिनिमित्तं तस्य कृतपुण्येष्वसंभवतात । यदि वा संसारे सुखदुःखे प्रकृत्या सान्तरे एव । तथा च लोकाः पठन्ति--

सुखस्यानन्तरं दुःख दुःखस्यानन्तरं सुखम ।

सुखं दुःखं च मर्त्यानां चकवत्परिवर्तते ॥३२॥

राग पूर्वक देखा जाता है और उसका चित्त सच्चे प्रेमी रसिक मित्रोके साथ होनेवाले सरस वार्तालापसे सदा आनन्दित रहात है ॥३१॥

विशेषार्थ--गुण दो तरहके होते है--कुलक्रमसे आये हुए और शिक्षासे प्राप्त हुए । पराक्रम, सौन्दर्य और पियवादिता आदि तो कुलक्रमागत गुण है । लिखना, पढना, गायन, प्रातःकाल उठकर देवपूजा आदि करना, आचार, ये शिक्षासे प्राप्त होनेवाले गुण है । तथा कान्तासे मतलब अपनी पत्नीसे है जो पवित्र नागरिक आचारसे सम्पन्न हो, तथं चरित्र, सरलता, क्षमा आदिसे भूषित हो, अवस्थाके अनुसार वह बाला युवती या प्रौढा हो सकती है । उक्त श्लोकके द्वारा ग्रन्थकारने सदगुणोकी प्राप्ति और सचे गुणी मित्रोकी गोष्ठी तथं सदगुणोसे युक्त पत्नीकी प्राप्तिको पुण्यका फल कहा है और सच्चे गुणी मित्रोकी गोष्ठी तथं सदगुणोसे युक्त पत्नीकी प्राप्तिको पुण्यका फल कहा और जिसे वे प्राप्त है उस पुरु शको धन्य कहा है । जो लक्ष्मी पाकर कुसंगतमे पड जाते है जिनमे न कुलीनता होती है और न सदाचार, जो सदा कुमित्रोके संग रमते है, शराब पीते है, वेश्यागमन करते है वे पुण्यशाली नही है, पापी है । सच्चा पुण्यात्मा वही है जो पुण्यके उदयसे प्राप्त सुखसुविधाओको पाकर भी पुण्य कर्मसे विमुख नही होता । कुसंगति पुण्यका फल नही है, पापका फल है ।

इस प्राकर पुण्यवानकी स्वयंको प्राप्त गुणसम्पदाका कथंन करके दो श्लोकोके द्वारा स्त्रीविषयक गुणसम्पदाको बतलाते है--

पुण्यशालियोको ऐसी स्त्रियाँ पत्नी रू पसे प्राप्त होती है जो सुलोचना, सीता, द्रौपदीकी तरह पतिव्रता होती है, धर्म, अर्थ और कामका शास्त्रोक्त विधिसे सम्पादन करनेमे सावधान रहती है--उसमे प्रमाद नही करती, जिनके प्रेमके अनुभाव--कटाक्ष फेकना, मुसकराना, परिहासपूर्वक व्यंग वचन बोलना आदि--बनावटी कोपरू पी स्वादिष्ट व्यंजनसे मधुर होते है, जिनकी शरीररू पी लता लावण्यरू पी जलमे मानो तैरती है अर्थात उनका शरीर लताकी तरह कोमल और लावण्यसे पूर्ण होता है, तथं जो पतिके सुखमे सुखी और दुःखमे दुःखी होती है ॥३२॥

अपि च--

व्यालोलनेत्रमधुपाः सुमनोभिरामः,

पाणिप्रवालरू चिराः सरसाः कुलीनाः ।

आनृण्यकारणसुपुत्रफलाः पुरन्धयो,

धन्यं व्रतत्य इव शाखिनमास्वजन्ते ॥३३॥

सुमनसः--सुचित्ताःपुष्पाणि च । सरसाः--सानुरागाः सार्द्राश्च । कलीनाः--कुलजाः भूमिशिलष्ठाश्च । आनृण्यम--अपुत्रः पुमान् पितृणामृणभाजनमित्यत्रोजपीव्यम् । शाखिन--वृक्षं बहुगोत्रविस्तारं च ॥३३॥

अथ बालात्मजलीलावलोकनसुख कृतपुण्यस्य प्रकाश्यते--

क्रीत्वा वक्षोरजोभिः कृतरभसमुरश्चन्दनं चाटूकारैः,

किंचित संतर्प्य कर्णो द्रुतचरणरणद्रधुर्धुरं दूरमित्वा ।

क्रीडत डिम्भैः प्रसादप्रतिधधनरसं सम्ययस्मेरकान्ता-

दृक्संबाध जिहीते नयनसरसिजान्यौरसः पुण्यभंजाम ॥३४॥

क्रीत्वा--पणयित्वा स्वीकृत्य इत्यर्थः । इत्वा--गत्वा । प्रतिघः--कोपः । सस्मयाः--सगर्वाः । संकट
कान्तादृशोप्यौरसोपि गुणपन्नयनयोः सचरन्तीत्यर्थः ॥३४॥

अथ पुत्रस्य कौमारयौवनोचिता गुणसंपदं पुण्यवतः शसति--

आयुके अनुसार अपनी पत्नीके भी दो रूप होते हैं--युवती और पुरन्धी । जब तक प्रारम्भिक
युवावस्था रहती है तबतक युवती और बाल-बच्चोसे कुटुम्बके पूर्ण हो जाने पर पुरन्धी कही जाती है ।
इनमे-से युवतीसम्बन्धी सुख-सम्पदाका कथन करके अब पुरन्धीविषयक सुख बतलाते हैं--

जैसे चंचल नेत्रोके समान भौरासे युक्त, पुष्पोसे शोभित, हथेलीके तुल्य नवीन कोमल पत्तोसे
मनोहर, सरस और फलभारसे पृथ्वीमे झुकी हुई लताएँ वृक्षका आलिंगन करती है उसी प्रकार भौरे-जेसे
चंचल नेत्रवाली, प्रसन्न मन, कोमल पल्लव जेसे करोसे सुन्दर, अनुरागसे पूर्ण, कुलीन और अपने
पतिको पितृऋणसे मुक्त करनेमे कारण सुपुत्ररूपी फलोसे पूर्ण पुरन्धियाँ पुण्यशाजी पतिका अलिंगन
करती है ॥३३॥

अब तबलाते हैं कि पुण्यवानको अपने बालपत्रकी लीलाके देखनेका सुख प्राप्त होता है--

खेलते हुए अपनी छातीमे लगी हुई धुलके साथ वेगसे आकर पितासे लिपट जानेसे पिताकी छाती
पर लगा चन्दन बालककी छाती पर लग जाता है और बालककी छाती पर लगी धुल पिताकी छातीसे लग
जाती है । कभी अपने प्रियवचनोसे पिताके कानोको तृप्त करता है, कभ जल्दी-जल्दी चलनेसे पैरोमे
बँधे हुए धुँधुँरु के झुनझुन शब्दके साथ दूर तक जाता है और बालकोके साथ खेलते हुए क्षणमे रूष्ट और
क्षणमे तुष्ट होता है । उसकी इन क्रीडाओसे आकृष्ट बालककी माता गर्वसे भरकर मुसकराती हुई उसे
निहारती है तो पुण्यशाली पुरुष के नयनकमल अपने पुत्रकी क्रीडाओको देखनेमे बाधाका अनुभूव करते
हैं क्योंकि प्रिय पुत्र और प्रिय पत्नी दोनो ही उसे अपनी ओर आकृष्ट करते हैं । यह पुण्यका विलास है
॥३४॥

पुण्यशालीके पुत्रकी कुमार अवस्था और यौवन अवस्थाके योग्य गुण-सम्पदाकी प्रशंसा करते हैं--

सद्विद्याविभवैः स्फुरन धुरि गुरु पास्त्यर्जितैस्तज्जुषां,

दोःपाशेन बलता सितोपि रमया बध्नन रणे वैरिणः ।

आज्ञैश्वर्यमुपागतस्त्रिजगतीजाग्रद्यशश्चद्रमा,

देहेनैव पृथक सुतः पृथुवृषस्यैकोपि लक्षायते ॥३५॥

तज्जुषाइसद्विद्याविभवभाजा, सितः--बद्धः, रमया--लक्ष्मया, पृथुवृषस्य--विपुलपुण्यस्य पुसः,
लक्षायते--शतसहस्रपुत्रसाध्यं करोतीत्यर्थः ॥३५॥

अथ गुणसुन्दरा दुहितरोपि पुण्यादेव संभवन्तीति दृष्टान्तेन स्पष्टयति--

कन्यारत्नसृजा पुरोभवदिह द्रोणस्य धात्रीपतेः,

पुण्य येन जगत्प्रतीतमहिमा द्रष्टा विषलयात्मजा ।

क्रूर राक्षसचक्रिणा प्रणिहिता द्राग लक्ष्मणस्योरसः,

शक्ति प्रास्य यया स विश्वशरण रामे विशल्यीकृतः ॥३६॥

द्रोणस्य--द्रोणधननाम्नः । राक्षसचक्रिणा--रावणेन ॥३६॥

अथ पुण्योदयवर्तिना कर्मायासं प्रतयस्यति--

गुरु ओकी सेवासे उपार्जित समीचीन विद्याके विलाससे जो विद्याके वैभवसे युक्त ज्ञानी जनोके मध्यमे उनसे ऊपर शोभता है, जो लक्ष्मीके बाहुपाशसे बलपूर्वक बद्ध होने पर भी युद्धमे शत्रुओको बँधता है, आज्ञा और ऐश्वर्यसे सम्पन्न है, जिसका यशरू पी चन्द्रमा तीनों लोकोमे छाया हुआ है, तथा जो पितासे केवल शरीरसे ही भिन्न है, गुणोमे पिताके ही समान है, पुण्यशाली पिताका ऐसा एक भी पुत्र लाखो पुत्रोकेसमान होता है ॥३५॥

गुणोसे शोभित कन्याएँ भी पुण्यसे ही होती है, यह दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते है--

इस लोकमे कन्यारू पी रत्नको जन्म देनेवालोमे राजा द्रोणका पुण्य प्रधान था जन्होने विशल्या नामक पुत्रीको जन्म दिया जिसकी महिमा जगतमे प्रसिद्ध है । जब राक्षसराज रावणने क्रूरतापूर्वक लक्ष्मणकी छातीमे शक्तिसे प्रहार किया तो उस विशल्याने तत्काल ही उस शक्तिको निरस्त करके जगतके लिए शरणरू पसे प्रसिद्ध रामचन्द्रको अपने लघुभ्राता लक्ष्मणकी मृत्युके भयसे मुक्त कर दिया ॥३६॥

विशेषार्थ--यह कथा रामायणमे आती है । पद्यपुराणमे कहा है कि राम और रावणके युद्धमे रावणने अपनी पराजयसे क्रुद्ध होकर लक्ष्मण पर शक्तिसे प्रहार किया । लक्ष्मण मूर्छित होकर गिर गये । मूर्छित लक्ष्मणको जिलानेका पत्रयत्न होने लगा । इतनेमे एक विद्याधर रामचन्द्रजीके दर्शनके लिए आया और उसने लक्ष्मणकी मूर्छा दूर होनेका उपाय बताया कि राजा द्रोणकी पुत्री विशल्याके स्सनजलसे सब व्याधियाँ दूर हो जाती है । तब विशल्याका स्सनजल लेनेके लिए हनुमान आदि राजा द्रोणके नगरमे गये । राजा द्रोणने विशल्याको लक्ष्मणसे विहनेका संकल्प किया था । अतः उसने विशल्याको ही हनुमान आदिके साथ भेज दिया । विशल्याको देखते ही शक्तिका प्रभाव समाप्त हो गया और लक्ष्मणकी मूर्छा दूर हो गयी । रामचन्द्रजीकी चिन्ता दूर हुई । अतः ऐसी कन्या भी पुण्यके प्रतापसे ही जन्म लेती है ।

जिनके पुण्यका उदय है उनको कामके लए श्रम करनेका निषेध करते है--

विश्राम्यत स्फुरत्पुण्या गुडखण्डसितामृतैः ।

स्पर्द्धमाना फलिप्यन्ते भावाः स्वयमितस्ततः ॥३७॥

सिता--शर्करा, भावाः--पदार्थाः ॥३७॥

अथ कल्पवृक्षादयोपि धर्माधीनवृत्तय इत्युपदियशति--

धर्मः क्व नालं कर्मीणो यस्य भृत्याः सुरद्रुमाः ।

चिन्तामणिः कर्मकरः कामधेनुश्च किंकरा ॥३८॥

अलंकर्मीणः--कर्मक्षमः ॥३८॥

बिना किसी वाधाके अपना कार्य करनेमे समर्थ पुण्यके धारी जीवो ! अपने कार्यकी सिद्धिके लिए दौडधूप करनेसे विरत होओ । क्योकि गुड, खाण्ड, शक्कर और अमृतसे स्पर्द्धा करनेवाले पदार्थ करनेवाले पदार्थ आपके प्रयत्नके बिना स्वयं ही इधर-उधरसे आकर प्राप्त होंगे ॥३७॥

विशेषार्थ--बँधनेवाले कर्मोकी पुण्य पकृतियोमे जो फलदानकी शक्ति पडती है उसकी उपमा गुड, खाण्ड, शक्कर और अमृतसे दी गयी है ।

अधातिया कर्मोंकी शक्तिके भेद प्रशस्त प्रकृतियोंके तो गुड खाण्ड शर्करा और अमृतके समान होते हैं। और अप्रशस्त प्रकृतियोंके नीम, कांजीर, विष और हालाहलके समान होते हैं।

जैसे गुड, खाण्ड, शक्कर और अमृत अधिक-अधिक मीठे होनेसे अधिक सुखके कारण होते हैं। सी प्रकार पुण्य प्रकृतियोंमें जो अनुभाग पडता है वह भी उक्त रूपसे अधिक-अधिक सुखका कारण होता है। इस प्रकारके अनुभागके कारण जीवके परिणाम जैसे विशुद्ध, विशुद्धतर, होते हैं तदनुसार ही अनुभाग भी गुड, खाण्ड, शर्करा और अमृतके तुल्य होता है। उसका विपाक होने पर बाह्य वस्तुओंकी प्राप्ति बिना प्रयत्नके ही अनुकूल होती है ॥३७॥

आगे कहते हैं कि कल्पवृक्ष आदि भी धर्म (पुण्य) के अधीन हैं--

कल्पवृक्ष जिसके सेवक है, चिन्तामणि रत्न जैसेसे खरीदा हुआ दास है और कामधेनु आज्ञाकारी दासी है वह धर्म अभ्युदय और मोक्ष सम्बन्धी किस कार्यको करनेमें समर्थ नहीं है ? ॥३८॥

विशेषार्थ--कल्पवृक्ष, चिन्तामणि रत्न और कामधेनु ये तीनों इच्छित वस्तुको देनेमें प्रसिद्ध हैं। कल्पवृक्ष भोगभूमिमें होते हैं। इनसे माँगने पर भोग-उपभोगकी सामग्री प्राप्त होती है। आचार्य जिनसे नने इन्हे पार्थिव कहा है--

छ्ये कल्पवृक्ष न तो वनस्पतिकायिक है और न देवोंके द्वारा अधिष्ठित है। केवल पृथिवीके साररूप है।

६ गुडखंडसक्करामियसरिया सत्था हु णिबकंजीरा ।
विसहालहलसरिसासत्था हु अघादिपडिभांगा ॥--गो. क., गा. ८४ ।

७ न वनस्पतयोप्येते नैव दिव्यैरधिष्ठिताः ।
केवल पृथिवीसारास्तन्मत्वमुपागताः ॥--महापु. ९।४९ ।
अथ यथाकथंचित पूर्वपुण्यमुदीर्णं स्वप्रयोक्तारमनुगहातीत्याह--

प्रियान दूरेप्यर्थाजनयति पुरो वा जनिजुषः,
करोति स्वाधीनान सखिवदथ तत्रैव दयते ।
ततस्तान्वानीय स्वयमपि तदुद्येशमथवा,
नरं नीत्वा कामं रमयति पुरापुण्यमुदितम् ॥३९॥

पुरः--भोक्तरूप त्पत्तेः प्रागेव, जानिजुषः--उत्पन्नान, दयति (-ते) रक्षति । ततः--दूरादेशात् ।
उक्तं चार्थे--

दीपानतराद्यिशोप्यन्तादन्तरीपदपानिधेः ।
विधिधर्तयतीष्टार्थमानीयात्नीपतां गतः ॥ [] ॥३९॥

चिन्तामणि रत्नको ग्रन्थकारने अपनी टीकामें रोहणपर्वत पर उत्पन्न होनेवाला रत्न विशेष कहा है। और कामधेनु कवि कल्पनामें देवलोककी गाय है। ये सभी पदार्थ माँगने पर इच्छित पदार्थोंको देते हैं। किन्तु बिना पुण्यके इनकी प्राप्ति नहीं होती है। अतः ये सब भी धर्मके ही दास हैं। धर्मसे ही प्राप्त होते हैं। यही बात कविवर भूधरदसजीने बाहर भावनामें कही है ॥३८॥

आगे कहते हैं कि पूर्वकृत पुण्य उदयमे आकर अपने कर्ताका किसी न किसी रूपमे उपकार करता है--

पूर्वमे किया हुआ पुण्य अपना फल देनेमे समर्थ होने पर दूरवर्ती प्रदेशमे भी स्पर्शन आदि इन्द्रियोसे भोगने योग्य प्रिय पदार्थोको उत्पन्न करता है। यदि वे प्रिय पदार्थ अपने भोक्ता की उत्पत्तिसे पहले ही उत्पन्न हो गये हो तो उन्हें उसकेअधीन कर देता है। अथवा मित्रकी तरह वहाँ ही उनकी रक्षा करता है। और उन पदार्थोको दूर या निकट देशसे लाकर अथवा उस मनुष्यको स्वयं उन पदार्थोके प्रदेशमे ले जाकर यथेच्छ भोग कराता है ॥३९॥

विशेषार्थ--यह कथन पुण्यकी महत्ता बतलानेके लए किया गया है। पदार्थ तो अपने-अपने कारणके अनुसार स्वयं ही उत्पन्न होते हैं। तथापि जो पदार्थ उत्पन्न होकर जिस व्यक्तिके उपभोगमे आता है उसके कर्मको भी उसमे निमित्त कहा जाता है। यदि कर्म स्वयं कर्ता होकर बाह्य सामग्रीको उत्पन्न करे और मिलावे तब तो कर्मको चेतनपना और बलवानपना मानना होगा। किन्तु ऐसा नहीं है स्वाभाविक एक निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। जब कर्मका उदय होता है तब आत्मा स्वयं ही विभाग रूप परिणमन करता है तथा अन्य द्रव्य भी वैसे ही सम्बन्ध रूप होकर परिणमन करते हैं। जब पुण्य कर्मका उदयकाल आता है तब स्वयमेव उस कर्मके अनुभागके अनुसार कार्य बनते हैं, कर्म उन कार्योंको उत्पन्न नहीं करता। उसका उदयकाल आने पर कार्य बनता है ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। आधाति कर्मोमे वेदनीयके उदयसे सुख:दु:खके बाह्यकारण उत्पन्न होते हैं। शरीरमे नीरोगता, बल आदि सुखके कारण हैं, भूख प्यास आदि दु:खके कारण हैं। बाहरमे इष्ट स्त्री पुत्रादि, सुहावने देश कालादि सुखके कारण हैं अनिष्ट स्त्री पुत्रादि असुहावने

९ जौंचै सुरतरु देय सुख, चिन्तै चिन्ता रैन।

बिन जौंचै बिन चिंतये धरम सकल सुखदैन ॥

अथ धर्मस्यामुत्रिकफलातिशयं स्तौति--

यद्यिव्यं वपुराप्य मडक्षु हषितः पुरा सत्कृतं,

द्राग बुध्दवावधिना यथा स्वममरानादृत्य सेवादृतान।

सुप्रीतो जिनयज्वनां धुरि परिस्फूर्जन्नुदारश्रियां,

स्वाराज्यं भजते चिराय विलसन धर्मस्य सोनुग्रहः ॥४०॥

मडक्षु--अन्तमुहर्ततः, हषितः--विस्मितः । सुकृतं--सदाचरणम । अवधिना--

तत्कालोत्पन्नतीन्द्रियज्ञानविशेषा, यथास्वं--यो यस्य नियोगस्तं तत्रैव प्रत्यवस्थाप्य इत्यर्थः । अमरानइ सामानिकादीन । नियज्वनां--अर्हत्पूजकानामैशानादिशक्रणाम । स्वाराज्य--स्वर्गेधिपतित्वम, विलसन-- शच्यदिदेवीविलासप्रसक्तः सन । स अनुग्रहः--उपकारः ॥४०॥

देश-कालादि दु:खके कारण हैं। बाह्य कारणोमे कुछ कारण तो ऐसे होते हैं जिनके निमित्तसे शरीरकी अवस्था सुख-दुखका कारण होती है और कुछ कारण ऐसे होते हैं जो स्वयं ही सुख-दु:खके कारण हाते हैं। ऐसे कारणोकी प्राप्ति वेदनीय कर्मके उदयसे दु:खके कारण मिलते हैं। किन्तु कारण ही सुख-दु:खको उत्पन्न नहीं करते, जीव मोहके उदयसे स्वयं सुख-दु:ख मानता है। वेदनीय और मोहनीय कर्मोके

उदयका ऐसा ही सम्बन्ध है। जब सातावेदनीयके उदयसे प्राप्त बाह्य कारण मिलता है तब सुख मानने रूप मोहका उदय होता है और जब असातावेदनीयके उदयसे प्राप्त बाह्य कारण मिलता है तब दुःखका कारण होता है। जैसे किसीको सातावेदनीयके उदयसे मिला हुआ जैसा वस्त्र सुखका कारण हाता है वैसा ही वस्त्र सुख-दुःखका बलवान कारण मोहका उदय है, अन्य वस्तुएँ बलवान कारण नहीं है। परन्तु अन्य वस्तुओके और मोही जीवके परिणामोके निमित्त नैमित्तिककी मुख्यता है इससे मोही जीव अन्य वस्तुओको सुख-दुःखका कारण मानता है। पुण्य कर्मके उदयमे सुखरूप सामग्रीकी प्राप्ति होती है इसीलिए उसमे पुण्य कर्मको निमित्त माना जाता है ॥३९॥

इस प्रकार अनेक प्रकारके शुभ परिणामोसे संचित पुण्यविशेषके अतिशय युक्त विचित्र फलोका सामान्य कथन किया। अब विशेष रूपसे उसके पारलौकिक विचित्र फलोको बताते हैं। सबसे प्रथम स्वर्गलोक सम्बन्धी सुख का कथन करते हैं--

अन्तर्मुहूर्तमे ही उपपाद शिला पर उत्पन्न हुआ दिव्य शरीर प्राप्त करके विस्मयपूर्वक चारो ओर देव और देवियोके समूहको देखता है। देखते ही तत्काल उत्पन्न हुए अवधिज्ञानसे जानता है कि पूर्व जन्ममे शुभ परिणामसे उपार्जित पुण्यका यह फल है। तब प्रसन्न होकर सेवामे तत्पर प्रतीन्द्र सामानिक आदि देवोका यथायोग्य सत्कार करता है। और महर्द्धिक देवोके चित्तमे भी आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली अणिमा आदि आठ ऋद्धियोके ऐश्वर्यसे सम्पन्न ईशान आदि इन्द्राके जो जिनदेवके पूजक होते हैं, भी अगुआ बनकर

इन्द्रपदानन्तरभांवि चिक्रिमदमपि पुण्यविशेषादेवासद्यत इत्याह--

उच्चैर्गोत्रमभिप्रकाश्य शुभकृद्विक्चक्रालं करै-

राक्रमान कमलाभिनन्दिभिरनुग्रथन रथाडोत्सवम।

दूरोत्सारितराजमण्डलरू चिः सेव्यो मरू त्वेचरै-

रासिन्धोस्तनुतष्ठे प्रतापमतुल पुण्यानुगुण्यादिनः ॥४९॥

उच्चैर्गोत्र--इक्ष्वाक्वादिवशविशेष कुलाद्रि च। अभि--निर्भय समन्ताद्वा। शुभकृत--शुभकृन्तन्ति छिन्दन्ति शुभकृतः प्रतिपक्षपास्तदुपलक्षितं दिकचक्रं, पक्षे प्रजाना क्षेमकरः। करैः--सिध्दायैः किरणैश्च। कमला--लक्ष्मी, कमलानि च पानि। अनुग्रथन--दीर्घीकुर्वन। रथाउज्जेत्सव--चक्रत्नस्योद्धर्ष चक्राकप्रीति च। राजमण्डल--नृपगण चन्द्रबिम्ब च। मरू त्वेचरैः--देवविद्यपाधरैर्ज्योतिष्कदेवगहैश्च। इनः--स्वामी सूर्यश्च ॥४९॥

अथाधर्चक्रिमदमपि सनिदानधर्मानुभांवेदेव भवतीत्याह--

छित्वा रणे शत्रु शिरस्तदस्तचक्रेण दृप्यन धरणी त्रिखण्डाम।

बलानुगो भोगवशो भुनक्ति कृष्णो वृषस्यैव विजृम्भितेन ॥४२॥

शत्रुः--प्रतिवासुदेवः। त्रिखण्डा--विजयार्धादर्वाग्भाविनीम। बलानुगः--बलभद्र पराक्रम चानुगच्छन। भोगवशः--स्त्रग्वनितादि-विषयतन्त्रः। भोग वा नागशरीरं वष्टि कामयते नागशय्याशयित्वात् विजृम्भितेन--दुःखवसानसुखावसायिनानुभवेनेन, तस्य मियात्त्वानुभांवेने नरकान्तफलत्वात् ॥४२॥

अपना प्रभां पैलाता है। तथा चिरकाल तक शची आदि देवियोके साथ विलास करते हुए स्वर्गमे जो राज्यसुख भोगता है वह सब सम्यक तपश्चयरणमे अनुरागसे उत्पन्न हुए पुण्यका ही उपकार है ॥४०॥

आगे कहते हैं कि इन्द्रपदके पश्चात् चक्रीका पद भी पुण्य विशेषसे ही प्राप्त होता है--

जैसे सूर्य उच्चगोत्र--निषधाचलको प्रकाशित करके कमलोके आनन्दित करनेवाली किरणोंके द्वारा दिशामण्डलको व्याप्त करके प्रजाका कल्याण करता है, और चकवेको चकवीसे मिलाकर उन्हे आनन्द देता है, चन्द्रमण्डलकी कान्तिको समाप्त कर देता है ज्योतिष्क गहोसे सेवनीय होता है और समुद्र पर्यन्त अपने अतुल प्रतापको फैलाता है। वैसे ही पूर्वकृत पुण्यके योगसे चक्रवर्ती भी अपने जन्मसे उच्चकुलको प्रकाशित करके लक्ष्मीको बढ़ानेवाले करोके द्वारा प्रतिपक्षी राजओसे युक्त दिशामण्डलको आग्रान्त करके चक्ररत्नका उत्सव मनाता है, राजागणोंके प्रतापको नष्ट कर देता है, देव और विद्याधर उसकी सेवा करते हैं तथा वह अपने अनुपम प्रतापको समुद्रसे लेकर हिमाचल तक फैलता है ॥४१॥

आगे कहते हैं कि अर्धचक्रीप्रद भी निदान पूर्वक किये गये धर्मके प्रभांसे ही प्राप्त होता है--

अपने शत्रु प्रतिनारायणके द्वारा युद्धमे चलाये गये चक्रके द्वारा उसीका मस्तक काटकर गव्रित हुआ विषयासक्त कृष्ण बलदेवके साथ तीन खसड पृथ्वीको भोगता है यह उसके पूर्वजन्ममे निदानपूर्वक तपके द्वारा संचित पुण्यका ही विरुद्ध विलास है ॥४२॥

विशेषार्थ--चक्रवर्तीके तो धरमे चक्ररत्न उत्पन्न होता है किन्तु अर्धचक्री नाराणके प्रतिद्वन्दी प्रतिनाराणके पास चक्ररत्न होता है। जब दोनोंका युद्ध होता है तो प्रतिनाराण नारायण पर चक्र चलाता है। इस तरह वह चक्र प्रतिनाराणसे नारायणके पास आ जाता

अथ कामदेवत्वमपि धर्मविशेषण सम्पद्यत इत्याह--

यासां भूरु भडमात्रप्रदरदरभ्रप्रक्षरत्सत्वसारा

वीराः कुर्वन्ति तेपि त्रिभुवनयिनश्चाटुकारारन प्रसत्यै ।

तासामप्यडनाना हृदि नयनपथेनैव सक्रम्य तन्वन

याच्याभडेन दैन्य जयति सुचरितः कोपि धर्मेण विश्वम ॥४३॥

विद्येशीभूय धर्माद्वरविभवरभरभ्राजमानैर्विमानै--

व्योम्नि स्वैरं चरन्तः प्रिययुवतिपरिस्पन्दसान्द्राप्रमोदाः ।

दीव्यन्तो दिव्यदेशेष्वविहतमणिमाद्यदुतोत्सृप्तिदृता,

निष्प्रन्ताविभ्रम धिर्भ्रमणमिति सुरान गत्यहयून क्षिपन्ति ॥४४॥

परिस्पन्दः--श्रृङ्गाररचना । दिव्यदेशेषु--नब्दनकैलासान्तरद्वीपादिषु । अणिमादयः--अणिमा महिमा लघिमा गरिमा ईशित्वं प्रागम्य (प्राकम्य) वशित्व कामरु पित्व वेति । उत्सृप्तिः--उदगतिः । निष्प्रन्ताविभ्रम--देवीनामनिमेषलोचनतया भ्रूविकारानवतारादेवमुच्यते । गत्यहयून--मानुषोत्तरपर्वताद बहिरभि गमनेने गर्वितान । क्षिपन्ति--निन्दन्ति ॥४४॥

है और फिर नाराण उसी चक्रसे प्रतिनाराणका मस्तक काटकर विजयार्धपर्यन्त तीनखण्ड पृथ्वीका स्वामी होकर अपने बड़े भाई बलभद्रके साथ भोग भोगता है और मरकर नियमसे नरकमे जाता है। पर्वजन्ममे निदानपूर्वक तप करनेसे संचित हुए पुण्यका यह परिणाम है कि सांसारिक सुख तो प्राप्त होता है किन्तु उसका अन्त दुःखके साथ होता है क्योंकि मिथ्यात्वके प्रभांसे उस पुण्यके फलका अन्त नरक है।

आगे कहते हैं कि कामदेवपना भी धर्मविशेषका ही फल है--

तीनो लोकोको जीतनेकी शक्ति रखनेवाले जगत प्रसिद्ध वीर पुरुष भी जिन सियोके केवल कटाक्षपातरु पी बाणसे अतिपीडीत होकर अपना विवेक और बल खो बैठते हैं और उनकी पसन्नताके लिए चाबुकारिता करते हैं--चिरौरी आदि करते हैं, उन सित्रयोकेभी हृदयमे दृष्टिमार्ग मात्रसे प्रवेश करके उनकी प्रार्थनाको स्वीकार न करनेके कारण उनके मनस्तापको बढ़ानेवाले अखण्डितशील विरले पुरुष ही धर्मकेद्वारा विश्वको वशमे करते हैं ॥४३॥

आगे कहते हैं कि विद्याधरपना भी धर्मविशेषसे प्राप्त होता है--

धर्मके प्रातपसे विद्याधर होकर घ्वजा, माला, धण्टाजाल आदि श्रेष्ठ विभवके प्रकर्षसे शोभायमान विमानोमे स्वच्छन्दतापूर्वक आकशमे विचरण करते हैं, साथमे तरुणी वल्लभाओकी श्रृंगार-रचनासे उनका आनन्द और भी धना हो जाता है। वे अणिमा-महिमा आदि आठ विद्याओके अधुत उदगमसे गर्विष्ठ होकर नन्दनवन, कुलाचल, नदी, पर्वत आदि दिव्य देशोमे क्रिडा करते हुए मानुषोत्तर पर्वतसे बाहर भी जा सकनेकी शक्तिसे गर्वित देवके भी भ्रमणको धिक्कारते हुए उनका तिरस्कार करते हैं क्योंकि देवागनाओकी आँखे निर्निमेष होती हैं--उनकी पलके नही लगती अतः कटाक्ष निक्षेपका आनन्द स्वर्गमे नही है ॥४४॥

विशेषार्थ--विद्याधर मनुष्य होनेसे मनुष्यलोकसे बाहर नही जा सकते। किन्तु देव बाहर भी विचरण कर सकते हैं। किन्तु फिर भी विद्याधर देवोसे अपनेको सुखी मानते हैं।

अथाहारकशरीरसंपदपि पुण्यपविक्रमेत्याह--

प्राप्याहारकदेहेन सर्वज्ञ निश्चितश्रुताः।

योगिनो धर्ममाहात्म्यानन्दन्त्यानन्दमेदुराः ॥४५॥

प्राप्येत्यादि--

प्रमत्तसंयतस्य यदा श्रुतविषयमे क्वचित् संशयः स्यातदा क्षेन्नान्तरस्थतीर्थकरदेवान्त निराकर्तुमसावाहारकमारभते। तच्च हस्तमात्र शुद्धस्फटिकसंकाशमुत्तमाडेन निर्गच्छति। तन्न केन्द्रिच व्याहन्यते, न किमपि व्याहन्ति। तच्चान्तमहूर्तेन संशयमपनीय पुनस्तत्रैव प्रविशति। आनन्दमेदुराः-- प्रीतिपरपुष्टाः ॥४५॥

आगे कहते हैं कि आहारकशरीररूप सम्पत्ति भी पुण्यके उदयसे ही मिलती है--

धर्मके माहत्म्यसे आहारकशरीरके द्वारा कवलीके पास जाकर और परमागमके अर्थका निर्णय करके मुनिजन आनन्दसे पुष्ट होते हुए ज्ञान और संयमसे समृद्ध होते हैं ॥४५॥

विशेषार्थ--जो मुनि चारित्र विशेषका पालन करते हुए आहारक शरीरनामकर्म नामक पुण्य विशेषका बन्ध कर लेते हैं, भरत और ऐरावत क्षेत्रमे रहते हैं हुए यदि उन्हें शास्त्रविषयक कोई शंका हाती है और वहाँ केवलीका अभाव होता है तब तत्त्वनिर्णयके लिए महाविदेहोमे केवलीके पास जानेके लिए आहारकशरीरकी रचना करते हैं क्योंकि अपने औदारिक शरीरसे जानेपर उनका संयम न पलनेसे महा नअसंयम होता है। वह आहारकशरीर एक हाथ प्रमाण होता है, शुद्ध स्फटिकके समान धवल वर्ण होता है और मस्तकसे निकलता है। न तो कोई उने रोक सकता है और न वही किसीको रोकता है। एक अन्तर्मुहूर्तमे संशयको दूर करके नुः मुनिके ही शरीरमे प्रविष्ट हो जाता है। इसे ही आहारक समुद्धघात कहते हैं। कहा भी है--

आहारक शरीर नामकर्मके उदयसे संयत गुणस्थानवर्ती मुनिके आहारक शरीर होता है । यह असंयमसे बचावके लिए तथं सन्देहको दूर कनेके लिए होता है । मुनि जिस क्षेत्रमे हो उस क्षेत्रमे केवली श्रुतकेवलीका अभाव होनेपर तथं विदह आदि क्षेत्रमे तपकल्याणक आदि सम्पन्न होता हो या जिनेन्द्रदेव और जिनालयोकी वन्दना करनी हो तो उसकी रचना इस प्रकारकी होती है--वह मस्तकसे निकलता है, धातुसे रहित होता है, शुभ होता है, संहननसे रहित होता है, समचतुरस्त्र संस्थानवाला होता है, एक हाथ प्रमाण और प्रशस्त उदयवाला होता है । व्याधात रहित होता है, जधन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त होती है । आहारक शरीर पर्याप्तिके पूर्ण होनेपर कदाचित् मुनिका मरण भी हो सकता है ।

१. आहारस्युदयेण पमत्तविरदस्स होदि आहार ।
 असंजमरिहरणटठ सेदहविणासणटठ च ॥
 णियखेत्ते केवल्लिदुगविरहे णिक्कमणपहुदि कल्लाणे ।
 परखेत्ते संवित्ते जिणजिणधरवदणटठ च ॥
 उत्तमअंगमिह हवे धादुविहीण सुह असंघडण ।
 सुहसंठाण धवल हत्थपमाण पसत्थुदय ॥
 अब्बाधादी अंतोमुहुत्तकालठिदी जहणिदरे ।
 पज्जत्तीसंपुण्णे मरण पि कदाचि संभवइ ॥

--गो. जीव., गा. २३५-२३८

अथ धर्मानुभावजनितस्वपरान्तरज्ञानाना मुनीन्द्राणामतीन्द्रियसुखसंवित्या अहमिन्द्रपदव्यावृत्ति दर्शयति--

कथयतु महिमान को नु धर्मस्य येन स्फुटघटितविवेकज्योतिषः शान्तमोहाः ।

समरससुखसंवल्लिखितात्यक्षसौख्यास्तदपि पदमपोहन्त्याहमिन्द्रं मुनीन्द्राः ॥४६॥

विवेकज्योतिः--स्वपरविभंगज्ञानम । अपोहन्ति--व्यावर्तयन्ति । छउपसर्गादस्य त्यूहौ वाड

इति परस्मैपदम । आहमिन्द्र--अहमिन्द्रः कल्पातीतदेवः । तल्लक्षणमार्शोक्त यथा--

घ्नासूया परनिन्दा वा नात्मशलाधा न मत्सरः ।

केवल सुखासादभूता दीव्यन्त्येते दिवोकसः ॥५॥

अपि च-- अहमिन्द्राहस्मि नेन्दोन्यो मत्तोस्तीत्यात्तकर्तुताः ।

अहमिन्द्राख्यया ख्याति गतास्ते हि सुरोत्तमाः ॥५॥

[माह पु. ११।१४४, १४३]

अहमिन्द्रस्येद पदमित्यण ॥४६॥

आगे कहते है कि धर्मके माहत्म्यसे जिन्हे स्वपर भेद-ज्ञान हो जाता है वे मुनीन्द्र अतीन्द्रिय सुखका संवेदन होनेसे अहमिन्द्र पदसे भी विमुख होते है--

उस धर्मके माहत्म्यको कौन कह सकता है जिसके माहत्म्यसे स्पष्ट रूपसे स्वपरका भेदज्ञान प्राप्त कर लेनेवाले शान्तमोह अर्थात् उपशान्त कषाय गणस्यानवर्ती और समरस अर्थात् यथाख्यात चरित्रसे

होनेवाले सुखकी अनुभूतिसे अतीन्द्रिय सुखको साक्षात् अनुभूवन करनेवाले मुनीन्द्र उस लोकोत्तर अहमिन्द्र पद से भी विमुख हो जाते हैं ? ॥४६॥

विशेषार्थ--सातवे गुणस्थानके पश्चात् दो श्रेणियाँ हैं--एकको उपशम श्रेणी कहते हैं और दूसरीको क्षपक श्रेणी । उपशम श्रेणीमें मोहनीय कर्मका उपशम किया जाता है और क्षपक श्रेणीमें मोहका क्षय किया जाता है । आठसे दस तक गुणस्थान दोनो श्रेणियोंमें सम्मिलित है । उनके बाद ग्यारहवाँ उपशान्त कषाय गुणस्थान क्षपकश्रेणीका ही है । इस तरह आठसे ग्यारह तक चार गुणस्थान उपशम श्रेणीके हैं और ग्यारहवेको छोड़कर आठसे बाहर तकके चार गुणस्थान क्षपक श्रेणीके हैं । उपशम श्रेणीपर आरोहण करनेवाला ग्यारहवे गुणस्थानमें जाकर नियमसे नीचे गिरता है क्योंकि दबा हुआ मोह उभर आता है । यदि वह ग्यारहवेमें मरण करता है तो नियमसे अहमिन्द्रदेव होता है । किन्तु जो चरमशरीरही होता है वे उपशम श्रेणीपर यदि चढ़े तो गिरकर पुःक्षपक श्रेणीपर चढ़ते हैं और उसी भवसे मोक्ष प्राप्त करते हैं । उक्त श्लोकमें ऐसे ही चरमशरीरही मुनिराजोका कथन है । जो मुनिराज शुद्धोपयोगसे मिले हुए योगविशेषसे अहमिन्द्र पदकी प्राप्तिके योग्य पुण्य विशेषके बन्धके अभिमुख होकर भी शुद्धोपयोगके बलसे उसे बिना बाँधे ही उपशम श्रेणीसे उतरकर क्षपक श्रेणीपर चढ़ते हैं वे जीवन्मुक्त होकर परमुमुक्तिको प्राप्त करे हैं । महापुराणमें अहमिन्द्रका लक्षण इस प्रकार कहा है--

मै ही इन्द्र हूँ, मेरे सिवाय कोई अन्य इन्द्र नहीं है इस प्रकार अपनी सराहना करनेसे वे उत्तम देव अहमिन्द्र नामसे ख्यात हुए । वे न तो पनरस्पर में असूया करते हैं न परनिन्द्रा, न आत्मप्रशसा और न डाह । केवल वे सुखमय होकर क्रिडा करते हैं ।

अथ गार्भादिकल्याणाश्चर्यविभूतिरपि सम्यक्त्वसहचारिपुण्यविशेषादेव संपद्यत इत्याह--

द्यौरष्यन विश्वपूज्यौ जनयति जनकौ गर्भगोतीव जीवो

जातो भोगान प्रभुडक्ते हरिभिरू पहतान मन्दिरान्निष्क्रमिष्यन ।

ईर्ते देवर्षिकीर्ति सुरखचरनृपैः प्रवजत्याहितेज्यः

प्राप्यार्हन्त्य प्रशास्ति त्रिजगदृषिनुतो यति मुक्ति च धर्मात् ॥४७॥

व्योममार्गात् एष्यन । तीर्थकरे हि जनिष्यमाणे प्रागेव मासषट्कात्तन्माहत्म्येन तत्पितरौ जगत्पूज्यौ भवतः । ईर्ते--गच्छति प्राप्नोति । देवर्षिकीर्ति--लौकान्तिकदेवकृता स्तुति । प्रव्रजति--दीक्षा गृहति याति मुक्त च । अन्नापि धर्मादित्येव केवलम् । धर्मात्र यो मुख्यतया प्राग व्याख्यातः । तस्यैव कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षे सामर्थ्यापत्तेः ॥४७॥

अथ धर्मादयानुदयाभ्या सम्पदामिवाधर्मादयानुदयाभ्या विपदामपभोगानुपभागौ भवत इत्याह--

धर्म एव संता पोश्यो यत्र जाग्रति जाग्रति ।

भक्तु मीलति मीलन्ति संपदो विपदोन्यथा ॥४८॥

पोष्यः । एतेनोपमान लक्षयति । ततो यथा उपरिके सावधाने राज्ञा सेवनायावरोधिकाः सावधाना भवन्ति निवधाने च निरवधानाः तथा प्रकृतेपि योज्यम् । जाग्रतिः स्वव्यापार प्रवर्तयति सति । मीलतिः स्वव्यापारदुपरमति । अन्यथा--अधर्मे जाग्रति (विपदो) जाग्रति तस्मिश्च मीलति मीलन्ति ॥४८॥

नौ ग्रैवेयकसे लेकर सर्वार्थसिद्धि तकके देव अहमिन्द्र कहलाते हैं । वे सब ब्रम्हचारी होते हैं, उनमें देवागना नहीं होती है ॥४६॥

आगे कहते हैं कि गर्भावतरण आदि कल्याणकोकी आश्चर्यजनक विभूति भी सम्यक्त्व सहचारी पुण्यविशेषसे ही सम्पन्न होती है--

धर्मके प्रभावसे जब जीव स्वर्गसे च्युत होकर आनेवाला होता है तो मात-पिताको जगतमे पूज्य कर देता है। अर्थात् तीर्थकरके गर्भमे आनेसे छह मास पूर्व ही उनके माहात्म्यसे माता-पिता जगतमे पूज्य बन जाते हैं। गर्भमे आनेपर और भी अधिक पूज्य हो जाते हैं। जन्म लेनेपर सौधर्म आदि इन्द्रोकेद्वारा भेट किये गये भोगोको भोगता है। जब वह घरका परित्याग करना चाहता है तो लौकान्तिकदेवोकेद्वारा की गयी स्तुतिका पात्र होता है। फिर देव, विद्याधर और राजाओसे पूजित होकर जिनदीक्षा ग्रहण करता है। अर्हन्त अवस्थाको प्राप्त करके तीनों लोकोको धर्मका उपदेश करता है तथा गणधरदेव आदिसे पूजित होता है। इन्तमे मुक्ति प्राप्त करता है ॥४७॥

विशेषार्थ--इनमे गर्भावतरण आदि महोत्सव तो पुण्य विशेष रूप औपचारिक धर्मके उदयसे होते हैं। किन्तु मोक्षकी प्राप्ति तो पूर्वमे प्रतिपादित मुख धर्मसे ही होती है क्योंकि समस्त कर्मोंसे छुड़ानेकी शक्ति मुख्य धर्ममे ही है ॥४७॥

आगे कहते हैं कि जैसे धर्म--पुण्यके उदयसे सम्पत्तिका भोग और अनुदयमे अनुपभोग है वैसे ही अधर्म--पापके उदयमे विपत्तिका उपभोग और अनुदयमे विपत्तिका अनुपभोग होता है--

विचारशील सत्पुरुषोको धर्मका ही पोषण करना चाहिए जिसके जाग्रत रहने पर--कार्यशील रहनेपर सम्पदाएँ अपने स्वामीकी सेवाकेलिए जाग्रत रहती हैं और विराम लेने

अथेदानी धर्मस्य सुखसम्पादकत्वमभिधायेदानी दुःखनिवर्तकत्व तस्यैव पद्यैश्चतुर्दशभिः प्रपच्यति । तत्र तावददुर्गदेशेषु धर्मस्योपकार दर्शयति--

कान्तारे पुरु पाकसत्त्वविगलत्सत्त्वेम्बुधौ बर्भमत
ताम्यन्नक्रमयस्युदर्चिषि मरु च्चक्रेच्चरच्छोचिषि ।
संग्रामे निरवग्रहद्विषदुपस्कारे गिरौ दुर्गम-
ग्रावग्रन्थिलदिडमुखेप्यशरण धर्मा नरं रक्षति ॥४९॥

कान्तारे--अरण्ये मार्ग च दुर्गमे । पाकसत्त्वाः--कूरजीवाः सिंहव्याधादयः । सत्त्व मनोगुणः । सत्त्वा वा प्राणिनः । उदर्चिषि--अग्नौ । उपस्कारः--प्रतियन्तो वैकृत वा । ग्रन्थिलानि-निम्नोन्नतत्व नीतानि ॥४९॥

अथ धर्मा नानादुरवस्थांप्राप्त नरमुध्दरतीत्याह--

क्षुत्क्षाम तर्षतप्त पवनपरिधुत वर्षशीतातपात
रोगाघात विषात ग्रहरू गुपहतं मर्मशल्योपतप्तम ।
दूराध्वनाप्रभग्नं प्रियविरहबृहद्धनुदून सपत्न-
व्यापन्नं वा पुमासं नयति सुविहितः प्रीतिमुद्धृत्य धर्मः ॥५०॥

ग्रहरू क--ग्रहाणा शनैश्चरादीना ब्रम्हराक्षसादीना वा पीडा । दूराध्वनाप्रभग्न विप्रकृष्टमार्गे खिन्नम । अध्वानशब्दोपि मार्गार्थोस्ति । यल्लक्ष्यम--करितुरगमनुष्य यत्र वाध्वानदीनम । बृहदभानुः--अग्निः ॥५०॥

अथोक्तार्थसमर्थनार्थं त्रिभिः श्लोकैः क्रमेण सगर-तोयदवाहन-रामभद्रान दृष्टान्तत्वेनाचष्टे--

पर विराम ले लेती है। तथा पापके जाग्रत रहने पर विपत्तियों पापीकी सेवाके लिए जाग्रत रहती है और पापकेविराममे विपत्तियों भी दूर रहती है ॥४८॥

इस प्रकार धम्म सुखका दाता है यह बतलाकर अब चौदह पद्योसे उसी धर्मको दुःख का दूर करनेवाला बतलाते है। उनमेसे सर्वप्रथम दुर्गम देशमे धर्मका उपकार कहते है--

जहाँ व्याध, सिंह आदि क्रूर प्राणियोकेद्वारा अन्य प्राणियोका संहार प्रचुरतासे किया जाता है ऐसे बीहड वनमे, जिसके जलमे भीषण मगरमच्छ डोलते है ऐसे समुद्रमे, वायुमण्डलके कारण ज्वालाओसे दीप्त अग्निमे, शत्रुआके निरकुंश प्रतियन्तसे युक्त युद्धमे और दुर्गम पत्थरोसे दिशामण्डलको दुरु ह बनानेवाले पर्वतपर अशरण मनुष्यकी धर्म ही रक्षा करता है ॥४९॥

आगे कहते है कि धर्म अनेक दुरवस्थाओसे घिरे हुए मनुष्यका उध्दार करता है--

भूखसे पीडित, प्याससे व्याकुल, वायुसे अत्यन्त कम्पित, वर्षा शीत धामसे दुखी, रोगोसे आग्रानत, विषसे त्रस्त, श्नीचर आदि ग्रहोकी पीडोसे सताये हुए, मर्मस्थानमे लगे हुए कोंटे आदिसे अत्यन्त पीडा अनुभवं करनेवाले बहुत दूर मार्ग चलनेसे अत्यन्त थके हुए, स्त्री पुत्र बन्धु मित्र आदि प्रियजनोके वियोगसे आगकी तरह तपे हुए तथा शत्रुओको द्वारा विविध आपत्तियोमे डाले हुए मनुष्यको निष्ठापूर्वक पालन किया गया धर्म कष्टोसे निकाल कर आनन्द प्रदान करता है ॥५०॥

उक्त अर्थका समर्थन करनेके लिए तीन श्लोकोके द्वारा क्रमसे सगर मेघवाहन और रामभद्रको दृष्टान्तरु पसे उपस्थित करते है--

सागरस्तुरगेणैकः किल दूर हतोद्वीम ।

खेटः पुण्यात प्रभूकृत्य तिलकेशी व्यवाहयत ॥५१॥

हतः--नीत । खेटैः--सहस्त्रनयनादिविद्याघरेः ॥५१॥

कीर्णे पूर्णाधने सहस्त्रनयनेनान्वीर्यमाणोजितं

सर्वज्ञ शरण गतः सह महाविद्या श्रिया राक्षसीम ।

दत्त्वा प्राग्भवपुत्रवत्सलतया भीमेन रक्षोन्वय-

प्राज्योरच्यत मेघवाहनखगः पुण्य क्व जागर्ति न ॥५२॥

कीर्णेइहते । पूर्णघनेइसुलोचनघातिनि स्वजनके । सहस्त्रनयनेनेइसुलोचनपुत्रेण । आनीयमाणः (अनीर्यमाणः) तदबलैरनुदूयमाणः । श्रिया--नवग्रहाख्यहारलंकाडाकरोदरामुख्यपुरध्दयकामगायविमान-प्रभृतिसम्पदा सह । भीमेन--भीमनाम्ना राक्षसेन्द्रेण । रक्षोन्वयप्राज्यः--राक्षसवशस्यादिपुरषः । अरच्यत--कृतः ॥५२॥

राज्यश्रीविमुखीकृतोनुहतैः कालं हरंस्तवफलैः

संयोग प्रियया दशास्यहतया स्वप्नेप्यसंभावनयन ।

क्लिष्टः शोकविषार्चिषा हनुमता तद्वार्तयोज्जीवितो

रामः कीशबलेन यत्तमवधीत तत्पुण्यविस्फूर्जितम ॥५३॥

राज्यश्रीविमुखीकृतः--राज्यलक्ष्म्याः पित्रा दशरथराजेन निवर्तितः । अनुजहतैः--लक्ष्मणनीतैः । कीशबलेन--वानसैन्येन ॥५३॥

अथ धर्मस्य नरकेपि धोरोपसर्गनिवर्तकत्वं प्रकाशयति--

आगममे ऐसा जुना सुना जाता है कि एक घोड़ेके अकेले राजा सगरको हरकर दूर अटवीमे ले गया । वहाँ पुण्यके प्रभांसे सहस्त्रनयन आदि विद्याधरोने उसे अपना स्वामी बनाया और विद्याधर-कन्या तिलकेशीके साथ उसका विवाह हो गया ॥५१॥

विशेषार्थ--यह कथा और आगेकी कथा पद्यपुराणके पाँचवे पर्वमे आयी है ।

सहस्त्रनयनके द्वारा पूर्णधनके मारे जानेपर सहस्त्रनयकी सेना पूर्णधनके पुत्र मेघवाहनके पीछे लग गयी । तब मेघवाहनने भगवान अजितनाथ तीर्थकरके समवसरणमे शरण ली । वहाँ राक्षसराज भीमने पूर्वजन्मके पुत्र पेमतवा नवग्रह नामक हार, लंका और अलंकारोदय नामक दे नगर और कामग नामक विमानके साथ राक्षसी महाविद्या देकर मेघवाहन विद्याधरको राक्षसवंशका आदि पुरु ष बनाया । टीक ही है पूर्वकृत पुण्य सुख देने और दुःख को मेटने रूप अपने कार्यमे कहाँ नही जागता, अर्थात् सर्वत्र अपना कार्य करनेमे तत्पर रहता है ॥५२॥

श्रीरामको उनके पिता दशरथने राजसिंहासनसे वंचित करके वनवास दे दिया था । वहाँ वह अपने लघुभ्राता लक्ष्मणके द्वारा गये वनके फलो और वल्कलोसे काल बिताते थे । रावणने उनकी प्रियपत्नी सीताको हर लिया था और उन्हे स्वप्नमे भी उसके साथ संयोगकी सम्भांवना नही थी । शोकरू पी विषकी ज्वालासे सन्तप्त थे । किन्तु हनुमानने सीताका संवाद लाकर उन्हे उज्जीवित किया । और रामने बानर सैन्यकी सहायतासे रावणका वध किया, यह सब पुण्यका ही महात्म है ॥५३॥

आगे कहते है कि धर्म नरकमे भी घोर उपसर्गका निवारण करता है--

श्लाघे कियद्वा घर्माय येन जन्तुरु पस्कृतः ।

तत्तद्गुपसर्गेभ्यः सुरैः श्वेभ्रेपि मोच्यते ॥५४॥

उपस्कृतः-- आहितातिशयः । तत्तद्दृशः-- नारकैः संक्लिष्टासुरेश्च स्वैरमुदीरिताः । सुरैः-- कल्पवासिदेवैः । ते हि षण्मासायुःशेषेन नरकादेष्यता तीर्थकरणामुपसर्गान्निवारयन्ति । तथा चागमः--

तित्थरसत्तकम्मे उवसग्गनिवारण करति सुरा ।

छम्माससेसनिरए सग्गे अमलाणमालाओ ॥५४॥

[]

अथ धर्ममाचरतो विददुपतापे तन्निवृत्यर्थं धर्मस्यैव बलाधान कर्तव्यमित्यनुशास्ति--

व्यभिचरति विपक्षक्षेपदक्षः कदाचिद

बलपतिरिव धर्मो निर्मलो न स्वमीशम ।

तदभिचरति काचित्प्रयोगे विपच्चेत्

स तु पुनरभियुक्तैस्तहर्ष पाजे क्रियेत ॥५५॥

बलवतिः (बलपतिः) सेनापतिरन्तम । निर्मलः--निरतिचारः सर्वोपधाविशुद्धश्च । ईश प्रयोक्तार चक्रिण च । स तुइस एव धर्मः उपाजे क्रियेत--आहितबलः कर्तव्यः ॥५५॥

उस धर्मकी कितनी प्रशंसा की जाय जिसके द्वारा सुशोभित प्राणी नरकमे भी नारकियो और असुरकुमारोके द्वारा दिये जानेवाले अत्यन्त दुःखके कारणभूत उपसर्गोसे देवोके द्वारा बचाया जाता है ॥५४॥

विशेषार्थ--जो जीव नरकसे निकलकर तीर्थकर होनेवाले होते हैं, जब उनकी आयु छह मास शेष रहती है तो कल्पवासी देव नरकमें जाकर उनका उपसर्ग निवारण करते हैं, नारकिया और असुरकुमारोके उपसर्गोंसे बचाते हैं। जो स्वर्गसे च्युत होकर तीर्थकर होते हैं स्वर्गमें उनकी मन्दारमाला मुरझाती नहीं ॥५४॥

धर्मका आचरण करते हुए यदि विपत्ति कष्ट देती है तो उसको दूर करनेकेलिए धर्मको ही सबल बनानेका उपदेश देते हैं--

जैसे शत्रुओके निराकरणमें समर्थ और सब प्रकारसे निर्दोष सेनापति रत्न कभी भी अपने स्वामी चक्रवर्तीके विरुद्ध नहीं होता, उसी प्रकार अधर्मका तिरस्कार करनेमें समर्थ निरतिचार धर्म अपने स्वामी धार्मिक पुरुषके विरुद्ध नहीं जाता--उसके अनुकूल ही रहता है। इसलिए उस धर्म या, सेनापतिके अपना काम करते हुए भी कोई देवकृत, मनुष्यकृत, तिर्यचकृत या अचेतन कृत विपत्ति सताती है तो कार्यतत्पर सत्पुरुषोंके द्वारा उसी सेनापतिकी तरह धर्मको ही बलवान करनेका प्रयत्न करना चाहिए ॥५५॥

विशेषार्थ--जैसे स्वामिभक्त निर्दोष सेनापतिको नहीं बदला जाता उसी प्रकार विपत्ति आने पर भी धर्मको छोड़ना नहीं चाहिए। किन्तु विशेष तत्परतासे धर्मका साधन करना चाहिए ॥५५॥

१. तित्थयरसंतकम्मुवसग्गं णिरए णिवारयंति सुरा ।

छम्मासाउगसेसे सग्गे अमलाणमालंको ॥--त्रि. सार, १९५ गा. ।

अथ दुर्निवारेपि दुष्कृते विलसति सति धर्मः पमासंमुपकरोत्येव इत्याह--

यज्जीवेन कषायकमठतया कर्माजित तद ध्रुवं

नाभुक्त क्षयमृच्छतीति घटयत्युच्चैःकटूनुटम ।

भ्रवान् कर्मणि दारु णेपि न तदेवान्ति नोपेक्षते

धर्मः किन्तु ततस्त्रसन्निव सुधा स्नौति स्वधाम्न्यस्फटम ॥५६॥

कषायकर्मठतया--क्रोधादिभिर्मनलोवाक्काव्यापारेषु घटमानत्वने । उच्चैःकटूनुटमइहालाहलप्रख्यान । चतुर्धा हि पापरसः निम्ब-कांजीर-विष-हालाहलतुल्यत्वात् । उध्दटं--प्रकटदर्पाटोपम । भगवान्--अहिविषकष्टकादीन पदार्थान् । सुधाम--लक्षणया सर्वाडीणमानन्दम । स्वधाम्नि--स्वाश्रयभूतो पुंसि । अस्फुटं--गूढं बाह्यलोकानामविदितम । अन्नेय भावना-बाहयादुर्वारदुष्कृतपाकोत्थमुपर्युपर्युपसर्गमेव पश्यन्ति न पुनः पुंसो धर्मेणानुगृह्यमासत्तवोत्साहस्य तदनभिमतम ॥५६॥

कठिनतासे हटाने योग्य पाप कर्मका उदय होने पर भी धर्म पुरुषका उपकार ही करता है ऐसा उपदेश देते हैं--

जिसका प्रतीकार अशक्य है ऐसे भ्रयानक पाप कर्मके उदयमें भी धर्म न तो उस पापकर्मका ही सहायक होता है और न धर्मात्मा पुरुषकी ही उपेक्षा करता है। इसपर यह शंका हो सकती है कि सच्चे बन्धु धर्म होते हुए भी पापरूपी शत्रु क्यो अशक्य प्रतीकार वाला होता है इसके समाधानके लिए कहते हैं--जीवने क्रोध, मान, माया और लोभ कषायसे आविष्ट होकर मानसिक, वाचनिक और कायिक व्यापारके द्वारा पूर्वमें जो कर्म बाँधा वह अवश्य ही भोगे विना नष्ट नहीं होता, इसलिए वह अपने

फलस्वरूप अत्यन्त कटु हालाहल विषके समान दुःखदायी पदार्थोंको मिलाता है। तब पुनः प्रश्न होता है कि जब धर्म न तो उस पाप कर्मकी सहायता करता है और न धर्मात्मा पुरुषकी उपेक्षा करता है तब क्या करता है? इसके उत्तरमें कहते हैं--यद्यपि धर्म ये दोनों काम नहीं करता किन्तु चुपचाप छिपे रूपसे धर्मात्मा पुरुषमें आनन्दामृतकी वर्षा करता है। प्रकट रूपसे ऐसा क्यों नहीं करता, इसके उत्तरमें उत्प्रेक्षा करते हैं मानो धर्म उस भयानक पाप कर्मसे डरता है ॥५६॥

विशेषार्थ--जैसे रोगकी तीव्रतामें साधारण औषधिसे काम नहीं चलता--उसके प्रतीकारके लिए विशेष औषधि आवश्यक होती है वैसे ही तीव्र पाप कर्मके उदयमें धर्मकी साधारा आराधनासे काम नहीं चलता। किन्तु धर्माचरण करते हुए भी तीव्र पापका उदय कैसे आता है यह शंका हाती है। इसका समाधान यह है कि उस जीवने पूर्व जन्ममें अवश्य ही तीव्र कषायके वशीभूत होकर ऐसे पाप कर्म किये हैं जो विना भोगे नष्ट नहीं हो सकते। यह स्मरण रखना चाहिए कि कर्म किसीके द्वारा न दिये जाते हैं और न लिये जाते हैं। हम जो कर्म भोगते हैं वे हमारे ही द्वारा किये होते हैं। हम कर्म करते समय जैसे परिणाम करते हैं हमारे परिणामोंके अनुसार ही उनमें फल देनेकी शक्ति पडती है। धातु कर्मोंकी शक्तिकी उपमा लता (बेल), दारु (लकड़ी), अस्थि(हड्डी) और पाषाणसे दी जाती है। जैसे ये उत्तरोत्तर कठोर होते हैं वैसे धातुकर्मोंका फल भी होता है। तथा आघातिया पाप कर्मोंकी शक्ति की उपमा नीम, कंजीर, विष और हालाहलसे दी जाती है। निकाचित बन्धका फल अवश्य

१. लतादार्वस्थिपाषाणशक्तिर्भेदाच्चतुर्विधः ।

स्याद धातिकर्मणा पाकोन्येषा निम्बगुडादिवत् ॥

अथ पापुण्ययोरपकरोपकारौ दृष्टान्तद्वारेण द्रढयितु वृत्तयमाह--

तत्तदृक्कर्मोपसर्गलहरीसर्गप्रगल्भौष्मणः

कि पार्श्वे तमुदग्रमुग्रमुदयं निर्वृत्तिं दुष्कर्मणः ।

कि वा तादृशदुर्दशाविलसितप्रध्वंसदीप्रौजसो

धर्मस्योरु विसारि सख्यमिह वा सीमा न साधीयसाम ॥५७॥